भूमिका

मनुष्य का जन्म स्वतः एक कहानी

मनुष्य ने पहली बार जिस क्षण इस पृथ्वी पर उत्पन्न होकर अपने आपको व्यक्त किया होगा, बस, उसी क्षण कहानी का भी जन्म हो गया होगा। नवजात शिशु का प्रथम कथन यद्यपि रुदन से प्रारम्भ होता है, किन्तु वह रुदन केवल कष्ट के कारण नहीं होता। महीनों वह जननी के उदर में सिमटा बँधा हुआ पड़ा रहता है। उससे मुक्ति पाकर जब वह अपने चारों ओर एक ऐसा घेरा देखता है, जिसकी हर वस्तु उसे नयी लगती है, तो वह विस्मय से चिल्ला उठता है। उसे कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि मैं कहाँ आ गया। यह सब, जो मैं देख रहा हूँ, है क्या? बन्धन छूटने में कुछ स्वतंत्रता का अनुभव भी उसे होता है। तभी वह अपने हाथ-पैर भी फटकारने लगता है। प्रायः वह भूखा भी रहता है। लेकिन इन सारी बातो और आवश्यकताओं को वह केवल रोकर या चिल्लाकर प्रकट करता है! उसे भाषा का ज्ञान नहीं होता। भाव-भंगिमाओं द्वारा भी वह अपने समस्त मनोभाव नहीं व्यक्त कर सकता। इस प्रकार जब वह एक बन्धन से छूटने पर भी अन्य बन्धनो का अनुभव करता है, तो छटपटाता और व्याकुल हो उठता है। उसे कष्ट क्या है, पीड़ा किस प्रकार की है, बन्धन में कैसे उसके दिन बीते और

उससे मुक्ति पाकर आज वह जो इस जगत् में आया है, तो अब चाहता क्या है ?—इन सारी बातों और समस्याओं को वह कैसे प्रकट करे ! मानो यही सब अनुभव करके वह एकदम से रो पड़ता है—चिल्ला उठता है !

इसी परिस्थिति पर यदि यह कहा जाय—

"वाह महाशय जी वाह ! यानी अभी-अभी तो आपने इस धरा-धाम पर पदार्पण किया। यहाँ तक कि हमने श्रीमान का दर्शन इसी समय प्राप्त किया है। और, कोई बात न चीत और लगे आप अपना दुखड़ा सुनाने। अरे भई, जब आप आ ही गये है, तो जरा इतमीनान से बैठिये, आराम कीजिये। फिर हम आपकी सब बातें सुन लेंगे।...लो ! आप तो हाथ-पैर फटकारते ही चले जा रहे हैं। और मुँह बनाकर ऐसा चिल्ला रहे हैं जैसे हम सभी पराये हों ! यह क्या हरकत है जनाब आपकी नन्हें साहब !"

तो आपको इसी में कथा के संवाद-तत्त्व का आभास मिल जायगा। बात यह है कि मनुष्य अपने अस्तित्व के प्रकट होते ही कुछ न कुछ कहना चाहता है। मानो कोई ऐसी घटना हो गई है, जिसे वह बतलाये बिना रह नहीं सकता। तब वह सारी परिस्थिति को दो बार के "कहाँ-कहाँ" क्रन्दन में स्पष्ट रूप से व्यक्त कर देता है।

और कहानी भी तो जीवन की स्थिति-विशेष का चित्रण ही होती है।

बहुधा हम पढ़ते आये हैं कि कला मानव-प्रकृति के कार्य-

कहानी और घटना

कलापों की व्याख्या है, जीवन की अभिव्यञ्जना है। साधारण रूप से इस कथन को स्वीकार कर लेने में कोई विशेष आपत्ति नहीं दृष्टिगत होती। किन्तु जीवन और प्रकृति, दोनों ही, अपनी वास्तविक स्थिति में अत्यन्त क्रूर, वीभत्स और भयंकर हैं। जीवन हमें तभी सुन्दर प्रतीत होता है, जब हम उस पर आवरण डालकर उसे सम्यक् आकर्षक बनाते हैं। और प्रकृति की यथार्थ स्थिति तो यह है कि यदि एक ओर वह हमारा पोषण करती है, तो दूसरी ओर सर्वनाश करते हुए भी उसे देर नहीं लगती ! तात्पर्य यह कि कला फोटोग्राफी मात्र नहीं है। जीवन में जो कुछ भी रागात्मक, अद्‌भुत, अभिनव और अभिराम है, सत्य और शिव है, कला केवल उसका चित्रण है। तभी तो अरिस्टाटिल को कहना पड़ा कि कला जीवन को अनुकृति नहीं, जीवन के अन्दर जो धारणाएँ हैं उनका चित्रण है।

कहानी की भी यही स्थिति है। मनुष्य प्रत्येक क्षण जीवन के नाना व्यापारों में संलग्न रहकर अपने को व्यक्त करता रहता है। नित्य ही उसके समक्ष कोई-न-कोई घटना होती रहती है। किन्तु सभी घटनाएँ तो कहानी नही हो सकती। जो घटना हमारे मन मे कोई हलचल नहीं उत्पन्न करती, हमारी रागात्मक वृत्तियों में झंकार को ध्वनियाँ नहीं गुंजित करती, वह कहानी कैसे बन सकती है !

कल्पना कीजिये कि आज आपको सड़क पर मृत अवस्था में पड़ी हुई एक सुन्दर-सी बिल्ली मिल गयी थी। उसको

उस अवस्था में देखकर क्षणभर के लिए आपको अच्छा नहीं लगता और तत्काल आप आगे बढ़कर, एक मोटर पर बैठकर, चल देते हैं: केवल यह सोचकर कि "उहँ! यह तो दुनियाँ है— मरना-जीना तो इसका नित्य का एक धंधा है।"

अब कल्पना कीजिये कि एक बिल्ली आपके घर में पली है! आप उसे अक्सर दूध पिलाते रहे हैं। उसे वर्षों खिलाया है आपने। कभी उसने आपके हाथ से मक्खन भरा टोस्ट छीन लिया है, तो कभी वह आपके लिहाफ के भीतर सो भी जाती रही है। बाहर से आया जान आते ही उसने 'म्याऊँ' बोलकर सदा नमस्ते किया है! और हाथ बढ़ाते ही उछलकर गोद में आ जाती रही है। आज जब आप अपनी कार से उतरकर बंगले की पोर्टिको से अन्दर जाने लगते हैं तो आपको पता चलता है कि आपकी बिल्ली को पड़ोस के शिकारी कुत्ते ने जब समाप्त कर डाला, तब लाचार होकर उसे फिकवा देना पड़ा! फिर इसके बाद जब आपको यह मालूम होता है कि जिस बिल्ली को देख कर आपने सोच लिया था कि "उहँ यह तो दुनियाँ है। मरना-जीना तो इसका नित्य का धंधा है।' और उसे दुबारा देखना भी स्वीकार नहीं किया था, वह स्वयं आपकी ही बिल्ली थी!— तो आप स्तब्ध हो उठते हैं। आँखों से टपकते आँसुओं के साथ एक आह सी प्यार के अन्तःकरण से फूट पड़ती है—"काश उस समय मुझे इस बात की आशंका भी होती कि वह बिल्ली किसी और की नहीं स्वयं मेरी है।"

अब विचार करने की बात यह है कि प्रारम्भ में जिस

घटना पर आपने ध्यान तक नहीं दिया, जिसने आपके हृदय को स्पर्श भी नहीं किया, उसी के रूपान्तर ने आपको स्तम्भित कैसे कर दिया ! क्या इस उदाहरण से यह नहीं स्पष्ट होता कि मनुष्य के अन्दर कितना अपना और पराया रहता है ! एक ही घटना थोड़े से रूपान्तर से मनुष्य का वास्तविक रूप प्रकट कर देती है !

कहानी में जीवन-रहस्य

प्रत्येक मनुष्य अपने मन में एक-न-एक महत्त्वाकांक्षा रखता है। वह अपने जीवन का निर्माण ऐसे ढंग से करना चाहता है, जिसमें उसकी प्रत्येक आकांक्षा पूर्ण हो। पर उसे इस बात का ज्ञान नहीं रहता कि वह किस सीमा तक अदृष्ट के हाथों का खिलौना है। नाना संकल्प-विकल्पों में पड़ कर वह प्रायः उचित मार्ग को छोड़कर अनुचित मार्ग ग्रहण कर लेता है। और अंत में एक ऐसा क्षण उसके जीवन में उपस्थित हो जाता है, जब वह स्वय अपने निश्चयों, निर्णयों और निष्कर्षों से अभिभूत हो उठता है। तब एक पश्चात्ताप उसके मानवी भावों में उत्कर्ष उत्पन्न करने का कारण बन जाता है। जीवन कितने रहस्यों से ओत-प्रोत है, मनुष्य के प्रयत्न किस सीमा तक सफल होते हैं, नाना प्रकार की असफलताएँ ही सफलता के कितने निकट उसे पहुँचा देती हैं। कुछ ऐसी भी कामनाएँ होती हैं, जो कभी पूर्ण नहीं होतीं, और कुछ ऐसे भी संयोग हमारे जीवन में उपस्थित हो जाते हैं, जब हमें आशातीत सफलता अनायास ही मिल जाती है। जीवन और जगत् के इस विचित्र रहस्य का आधार क्या है, हम

जानते हुए भी प्रायः अनुभव नहीं करते। किन्तु घटनाओं के मोड़ एक दिन सारा रहस्य खोल देते हैं! और तब हम अवाक् हो उठते और सोचते रह जाते हैं कि क्या मनुष्य के सारे प्रयत्नों के ऊपर भी कुछ और है! वह, जो हमें दिखाई नहीं देता, किन्तु जिसका अस्तित्व हमारे जीवन के क्षण-क्षण में निहित है।

एक उदाहरण—

दिलीप का विवाह बचपन में ही हो गया था। उस समय उसे संसार का विशेष ज्ञान नहीं हो पाया था। वयस्क होने पर जिस समय उसने अपनी गृहिणी का मुख देखा, तो उसका हृदय बैठ गया!—उसकी सारी मधुर कल्पनाएँ मर गयीं! उसे प्रतीत हुआ, उसके साथ उसके अग्रज ने विश्वासघात किया है! एक तो उसकी भार्या अर्धशिक्षित है, दूसरे उसकी एक आँख तिरछी है! परिणाम यह हुआ कि उसने उसे ग्रहण नहीं किया। उसके अग्रज ने उसे समझाने की बहुत चेष्टा की, किन्तु कोई फल नहीं हुआ। उसकी भार्या ने आँसुओं की भाषा में उसे जो पत्र लिखे, उसने उन्हें फाड़कर फेंक दिया! वह अपने भाई से अलग हो गया। फिर उसकी अनुमति लिये बिना उसने खूब परखकर, समझ-बूझकर दूसरा व्याह किया। उसने समझा, यह मेरी जीत है। परन्तु कुछ ही समय बाद, पिता के घर, उसकी उस नवभार्या के इतनी भयानक चेचक निकलती है कि उसकी एक आँख में फूली पड़ जाती है। आँखों के विशेषज्ञ भी उसके इस दोष को दूर नहीं कर पाते! कालान्तर में वह फूली भी गिर जाती है और वह एकाक्षी हो जाती है! तब दिलीप सोचता है—

हाय इससे तो मेरी प्रथम भार्या ही अच्छी थी ! अन्त में एक सोई हुई समवेदना उसके अन्तःकरण मे पुनः जाग्रत होती है। वह उस प्रथम भार्या को लिवाने के लिए ज्योंही उसके घर पहुँचता है, तो गाँव के बाहर ही यह समाचार सुनकर स्तब्ध हो जाता है कि छै मास पूर्व—वैशाख कृष्ण १२ को—वह इस जगत् से विदा हो गयी। वैशाख कृष्ण की वही द्वादशी, जिस दिन उसने दूसरी भार्या का पाणिग्रहण किया था।

हाय रे दुर्भाग्य !

कहानी में सत्य और कल्पना

जन साधारण में, कहानी के सम्बन्ध में, प्रायः एक भ्रामक धारणा पायी जाती है। लोग अक्सर कह बैठते हैं कि "कहानी लिखने में है क्या ! सभी बातें तो कल्पित रहती हैं। सत्य की मात्रा उसमें नहीं के बराबर होती है।" इस कथन मे, हो सकता कि, सत्यांश भी कुछ हो; किन्तु इसमे सन्देह नहीं कि ऐसा कहते वही लोग हैं जो इतना भी नहीं जानते कि कला का सत्य क्या वस्तु होती है।

हम पहले ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि कला जीवन की फोटोग्राफी नहीं है। अर्थात् कला में हम उन्हीं घटनाओं का यथार्थ वर्णन या चित्रण नहीं किया करते, जो हमारे जीवन में प्रायः घटित हुआ करती हैं। एक तो समाज-व्यवस्था के लिए यह कल्याणकारी नहीं है, दूसरे इसमें साहित्य के शील का निर्वाह होना भी दुष्कर है। जो कुछ हमारे जीवन मे घटित हुआ है, कला उसी की झलक नहीं है। वरन् यह उसका भी एक प्रतिबिम्ब

है जो हमारे सब के जीवन में नित्य सम्भव है। अब यहाँ विचारणीय यह है कि कला में सत्य का रूप, लक्षण और निर्वाह कैसे होता है।

कला में कल्पना का स्थान प्रमुख है, सत्य का गौण। कल्पना का स्थान प्रमुख इसलिए है कि मनुष्य की प्रत्येक कामना प्रारम्भ में एक कल्पना मात्र हुआ करती है। जब कामना का रूप स्थिर हो जाता है, तब वह संकल्प बन जाती है। जीवन के वे व्यापार और कार्य जो हमारे भविष्य का निर्माण किया करते हैं, पहले पहले हमारे मानस में कल्पना के ही रूप मे उत्थित होते हैं। कल्पना संकल्प बनती है, संकल्प सिद्ध होने पर उसे सत्य बना देते हैं।

और सत्य का स्थान कला मे गौण इसलिए है कि सत्य कला का स्वभाव किंवा संस्कार मात्र है। जिन पात्रों का चुनाव हम कहानी मे किया करते हैं, वे हमारे जीवन में चाहे व्याप्त न भी हों, पर जगत् में उनका अस्तित्व अवश्य रहता है। आज के जगत् का सामाजिक प्राणी किस रूप में हमें आकृष्ट करता है, कैसे बोलता है, कैसे व्यवहार करता है, कैसे अपने जीवन को गति देता है, कहानी में उसके इसी सत्य की कल्पना की जाती है। अर्थात् जो कुछ हमारे जीवन के लिए सर्वथा स्वाभाविक है, कहानी उसकी कल्पना है।

यह निखिल जगत् जिस रूप मे आज स्थिर है, कौन कह सकता है कि सौ वर्ष बाद इसका यही रूप रहेगा। यही बात समाज के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। किन्तु मानव-प्रकृति तो एक स्थिर सत्य है; जीवन का सुख-दुख तो एक व्यापक सत्य

है। कहानी में हमें इसी स्थिर एवं व्यापक सत्य को कल्पना का रूप देना पड़ता है। तात्पर्य यह कि कहानी कल्पना होती हुई भी कोरी कल्पना नहीं होती—क्योंकि वह सत्य की कल्पना होती है।

कहानी और उपन्यास

बहुधा लोग कहानी और उपन्यास में केवल इतना भेद मानते हैं कि कहानी एक लघु कथा होती है और उपन्यास एक विस्तृत आख्यान। परन्तु वैधानिक दृष्टि से आकार के अतिरिक्त उनमें अन्य भेद भी पाये जाते हैं।

कहानी में जीवन के किसी एक तत्त्व, किसी एक मर्म और लक्षण की झलक रहा करती है। आश्चर्य हो कि वेदना, परिहास हो कि रोमांस, कला की चरम परिणति उसके अन्त में ही स्पष्ट होती है। सो भी नाटकीय ढंग से। एक अनिश्चय, एक दुविधा तथा एक संशय (suspense) चारों ओर से केन्द्रीभूत करके केवल अन्त में स्पष्ट किया जाता है। और वह भी इस ढंग से कि अन्त आने के पूर्व कहीं झलक न जाय। लेखक को इस सम्बन्ध में इतनी सावधानी रखनी पड़ती है कि यदि अन्त का भेद कभी पहले खुल जाता है, तो आलोचक तत्काल बोल उठता है—"बस, कहानी चौपट हो गई!

उपन्यास के लिए ऐसा कोई विधान नहीं है। 'देवदास' का नायक, उपन्यास समाप्त होने से पूर्व ही, हमारे हृदय पर यह प्रभाव डाल देता है कि वह अन्त की ओर अग्रसर हो रहा है! और 'गृहदाह' का खलनायक तो धीरे-धीरे पाठकों की इतनी समवेदना अपने पक्ष में कर लेता है कि मरते क्षण प्रकारान्तर

से हीरो बन जाता है।

उपन्यास का क्षेत्र भी इतना विस्तृत रहता है कि उसमें हमारे जीवन का पूर्ण चित्रण एक स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने का कारण बनता है। कहानी में जीवन की कुछ ही घड़ियों का इतिहास रहता है, किन्तु उपन्यास में उसके एक विशेष और अपने आप में सम्पूर्ण जीवन का!

कहानी में चरित्र-सृष्टि

प्रत्येक कहानी सदा हमारे समक्ष एक विशिष्ट, विचित्र, विलक्षण किन्तु सर्वथा स्वाभाविक चरित्र की सृष्टि करती है। केवल वर्णन हो अथवा संवाद, पत्र हो या वक्तव्य, प्रत्येक कथा का अन्त हमारे जीवन के किसी-न-किसी अंग पर प्रकाश डालता है, उसका कोई न कोई गुप्त भेद प्रकट करता है। जो भी व्यापार उसमें निहित रहता है, उससे किसी-न-किसी प्राणी किंवा वस्तु के चरित्र की सृष्टि हमारे समक्ष उपस्थित होती है। और इस चरित्र-सृष्टि का सम्बन्ध आवश्यकतानुसार उपन्यास और कहानी दोनों के साथ रहता है। "बड़े घर की बेटी" में जिस बहू का आदर्श चित्रांकण किया गया है, वह उपन्यास में और भी सुन्दर ढंग से आ सकता है।

कहानी में चरित्र-चित्रण

किन्तु कहानी में चरित्र-चित्रण की मात्रा अत्यन्त अल्प रहती है। इस विषय में लेखक भी प्रायः भ्रम में पड़ जाते हैं। कहानी में मनुष्य के सम्पूर्ण चरित्र-चित्रण के लिए स्थान ही कहाँ होता है। उसकी सीमा इतनी लघु, उसका क्षेत्र इतना

संकुचित, उसकी परिधि उतनी नपी-तुली रहती है कि चरित्र-चित्रण का उसमें समाविष्ट होना दुष्कर होता है। आज विश्व-साहित्य में कहानी का विधान इतना विकसित हो गया है कि एक पंक्ति की भी काट-छाँट अथवा अधिकता उसके लिए सम्भव नहीं रह गयी है। ऐसी स्थिति में कहानीकार के लिए यह कहाँ सम्भव है कि वह कहानी में नायक के व्यापक व्यक्तित्व की पूर्ण व्याख्या कर सके। इसीलिए आज चरित्र-चित्रण का सम्पूर्ण विकसित रूप कहानी के बजाय हम उपन्यास में पाते हैं।

चरित्र-सृष्टि और चरित्र-चित्रण के इस भेदाभेद के प्रति जो लेखक सजग नहीं रहते, वे प्रायः कहानी लिखते-लिखते उपन्यास लिखने लगते हैं। कहानी में रहस्य की बात को अन्त तक छिपाया जाता है। केवल संशय वृद्धि के लिए यत्र-तत्र यत्किंचित् बातें उपयुक्त ढंगों और रंगों से प्रकट कर दी जाती हैं। सो भी छोटे-मोटे छींटों के रूप में। अधिक गहराई के साथ चरित्र का निरूपण करने में कहानी का सारा रहस्य या चमत्कार शिथिल होकर मर जाता है। 'उसने कहा था', 'उसकी माँ' तथा 'अपना अपना भाग्य'—कहानियाँ, मैं मानता हूँ, सफल बन पड़ी हैं। किन्तु जिन कारणों से वे सफल हुईं, वे कारण दूसरे हैं। 'उसने कहा था' कहानी मे लहनासिंह की वह भावुकता, उसका महाप्राण बन जाती है जो उसे आत्मोत्सर्ग की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर करती हुई उसके जीवन-स्वप्नों की झाँकियों से अगाध करुणा उत्पन्न करती है। 'अपना-अपना भाग्य' में आज की सभ्यता के प्रति एक तीखा व्यङ्ग्य

उसका उत्कर्ष बन गया है। और 'उसकी माँ' के वातावरण में भारतमाता का एक सुन्दर रूपक है। स्वतन्त्रता की वेदी पर बलिदान हुए नव-युवकों की भावुकता (और विशेष रूप से फाँसी से पूर्व जेल से लिखे हुए लाल के पत्र) ने इसके प्रभाव को स्थायी बना दिया है।

किन्तु आज की कहानी का टेकनीक इनमें नहीं है। कहानी अपने अन्तिम क्षण जो प्रभाव एक झटके, धक्के, shock तथा चमत्कार के रूप में स्थापित करती है, उसका इनमें अभाव है; क्योंकि तीनों के अन्त की *tragic* कल्पना पाठक अन्त के पूर्व ही कर लेता है। इसके विपरीत 'साइकिल की सवारी,' 'कुँवर साहब मर गये', 'पत्नीव्रत' तथा 'रामलीला' कहानियाँ टेकनीक की दृष्टि से अधिक सफल हैं।

कहानी में सत्य और सस्ती भावुकता

स्थूल दृष्टि से यह कथन, कुछ कथाकारों को सम्भव है चिन्त्य और विवाद-ग्रस्त प्रतीत हो कि कहानी में सत्य का स्थान गौण है कल्पना का प्रमुख। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह बात पूर्ण-रूपेण स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि कहानी में कल्पना प्रत्यक्ष और सत्य प्रच्छन्न रहता है। इसमें सन्देह नहीं कि कहानी जीवन सत्य को प्रकट करने में साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक सक्षम है। किन्तु यहाँ प्रश्न तो यह है कि जीवन में सत्य की स्थिति क्या है!

एक उदाहरण—

कल्पना कीजिये कि एक परीक्षार्थी बड़े मनोयोग से अध्ययन

करता है। उसकी प्रबल इच्छा है कि वह परीक्षा में अवश्य पास हो। ज्यों-ज्यों उसका अध्ययन गहन होता जाता है, त्यों-त्यों उसका यह संकल्प भी उत्तरोत्तर दृढ़ होता जाता है कि उसे उत्तीर्ण होना है और वह अवश्य ही उत्तीर्ण होकर रहेगा। कल्पना संकल्प बनती है और संकल्प दृढ़ होकर विश्वास का रूप धारण कर लेता है। किन्तु परिणाम यह होता है कि परीक्षार्थी संयोग से फेल हो जाता है। इस घटना का उस परीक्षार्थी पर इतना अधिक प्रभाव पड़ता है कि वह रेल से कटकर आत्मघात कर लेता है!

यहाँ विचारणीय यह है कि इस प्रकार की घटनाएँ क्या हमारे जीवन में होती नहीं? अगर होती हैं तो जीवन का यह सत्य कहानी का विषय क्यों नहीं हो सकता? हो सकता है कि कोई यथार्थवादी कथाकार इस विषय पर कहानी लिख भी डाले। यह भी संभव है कि वह इस विषय पर इतनी मर्म-स्पर्शी कहानी लिख दे कि पाठकों का हृदय एक बार दहल उठे! किन्तु यदि कहानी की समवेदना परीक्षार्थी की ओर चली गयी, तो उसका प्रभाव समाज के लिए कितना अशिव होगा! हमारे जीवन के लिए ऐसी भावुकता कितनी भयानक हो उठेगी! तात्पर्य यह कि कला में सत्य का निरूपण एक सीमा तक ही किया जाता है। एक पश्चिमी विचारक का तो यहाँ तक कथन है कि कला जब चरम सत्य को प्राप्त होती है, तो वह नग्न हो जाती है।

विचार करने की बात है कि हमारे जीवन का क्षण-क्षण जिन नाना प्रकार की विकार-ग्रस्त कल्पनाओं से भरा रहता है,

उनका यथार्थ चित्रण कर देने पर हमारे कुटुम्ब, समाज और संस्कारो की क्या गति होगी ! कहा जाता है कि 'देवदास' फिल्म रिलीज होने पर हमारे देश के उन सहस्रों नवयुवकों ने मदिरा-सेवन प्रारम्भ कर दिया था, दुर्भाग्य से जिनके विवाह उनकी प्रेमिकाओं से नहीं हो पाये थे। वे सोचने लगे थे कि ऐसी स्थिति में मदिरा पी-पीकर अपने आपको समाप्त कर डालना ही हमारे लिए मुक्ति-प्राप्ति का एक सुगम मार्ग है।

यहाँ इस उदाहरण में परीक्षार्थी ने परीक्षा में फेल हो जाने पर आत्मघात करके जिस सस्ती भावुकता का परिचय दिया है वह न जीवन के लिए शिव हो सकती है, न कला के लिए। होनहार, संयोग, भाग्य और नियति का हमारे जीवन में जो अमिट स्थान है, रूपान्तरित होते रहने पर भी वह सदा अक्षुण्ण बना रहेगा। एक व्यक्ति का महत्त्व ही क्या है, शत शत व्यक्ति प्रकृति के एक दारुण संकेत पर काल के गाल मे समा जाते हैं। भूकम्प, नदियों की बाढ़, भयानक तूफान, रेलवे ट्रेनों का लड़ जाना, महामारी, प्लेग आदि महासंकटों का तार कभी टूटता है ! लेकिन संसार की गति फिर भी पूर्ववत् स्थिर बनी रहती है ! अस्तु, अपनी कामना सफल न होने पर हम अपना ही खून कर डालें, यह भी कोई बुद्धिमानी है ! इसका तो तात्पर्य यह हुआ कि हम जीवन को समझ ही नहीं पाये ! और यही हमारी महामूर्खता का जीता जागता प्रमाण है ! यह हमारी कायरता है। यह एक ऐसा विषाक्त हठ है, जिसकी औषध शीघ्र-से-शीघ्र हो जानी चाहिये !

कहानी में भावुकता का शिव रूप

किन्तु भावुकता के मांगलिक रूप को हम कभी भुला नहीं सकते। क्योंकि मनुष्य में वही एक ऐसी तीव्र शक्ति होती है, जो उसके चरित्र को महान बनाती है। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, सब में किसी-न-किसी मात्रा में भावुकता अवश्य रही है। यह भावुकता ही तो है कि हम दूसरों को अत्यधिक पीड़ा में देखकर रो पड़ते हैं! महान विचारक गीता के भगवान कृष्ण उस समय कितनी भावुकता में लीन हो गये थे, जब उन्होंने अस्त्र ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा भूलकर, महाभारत की रणभूमि में, भीष्म पर प्रहार करने के लिए, एक टूटे रथ का पहिया ही उठाकर, उन पर दे मारने की चेष्टा की थी!

भावुकता मनुष्य की दुर्बलता होकर भी उसकी अत्यन्त सुकुमार भावना होती है। वह जिस ओर मुड़ जाती है, उसी ओर एक विशेषता और विचित्रता उत्पन्न कर देती है। 'उसने कहा था' कहानी में लहनासिंह के निम्नांकित चरित्र में जो भावुकता झलकती है उससे उसकी चरित्र-सृष्टि कितनी सजीव हो जाती है!

"तेरी कुड़माई हो गई?"

"हाँ, हो गई।

"कब?"

"कल—देखते नहीं, रेशम से कढ़ा हुआ सालू।"

कहकर लड़की भाग गई! लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया। एक छाबड़ीवाले की

दिनभर की कमाई खोई; एक कुत्ते पर पत्थर मारा, और एक गोभी वाले के ठेले में दूध उंडेल दिया. सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पाई, तब कहीं घर पहुँचा।"

अन्त में जमादार लहनासिंह को जब सूबेदारनी का यह कथन याद आया है—

"एक बेटा है। फौज मे भरती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया !—कहती-कहती सूबेदारनी रोने लगी। अब दोनों जाते है (पति और पुत्र दोनो)। मेरे भाग ! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दूकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे और मुझे उठाकर दूकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था ! ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है ! तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।" रोती रोती सूबेदारनी ओबरी में चली गयी। लहना भी आँसू पोंछता बाहर आया !

वजीरासिंह ! पानी पिला—"उसने कहा था !"

तब इस कथन में सूबेदारनी की भावुकता भी स्पष्ट झलक जाती है ! अपने इस कथन मे भीख माँगते हुए वह जिस घटना की याद दिलाती है, उससे उसकी यह भिक्षा भिक्षा न रहकर उसका सर्वस्व-समर्पण बन जाती है। दृढ़ आत्मिक सम्बन्ध के बिना कोई नारी किसी भी पर-पुरुष से ऐसी मर्मस्पर्शी बात नहीं कर सकती !—तुम्हें याद है कि एक दिन तुमने मेरे प्राण बचाये

थे और अपने प्राणों की परवा नहीं की थी ! ऐसे ही अब इन दोनों के प्राण बचाना। यह मेरी भिक्षा है ! तुम्हारे आगे हैं आँचल पसारती हूँ !

अर्थात्

तुम्हें याद है, एक दिन तुमने मुझे कितना अपना समझा था ! तब से मैं भी तुम्हें वैसा ही अपना समझती आयी हूँ। मेरा यह अधिकार है कि मैं तुम्हें अपना समझकर तुमसे कुछ माँगू। मुझे विश्वास है, तुम इनकार न करोगे !

यह अधिकार और विश्वास ही सूबेदारनी के निर्मल प्रेम की वह अगाध धारा है, जिसने इस कहानी में लहनासिंह को अमर कर दिया है !

इस प्रकार भावुकता कहानी के पात्रों की चरित्र-सृष्टि में सदा सहायक होती है। केवल ध्यान रखने की बात यह है कि वह न उसके जीवन के लिए अशिव होने पाये—न समाज के लिए।

'बड़े घर की बेटी' में आनन्दी, श्रीकण्ठ और लालबिहारी तीनों पात्र भावुक हैं। 'उसने कहा था' मे लहनासिंह भावुक है। 'अनाथ बालिका' मे सरला के बड़े चाचा, उसकी माँ के जेठ रामप्रसाद भावुक हैं, जो पहले तो क्रोध-वश अपनी अनुज-वधू को घर से निकाल देते हैं, परन्तु फिर जब क्रोध शांत हो जाता है, तो सदा पछताते रहते हैं। और अन्त में अपने पुत्र रामसुन्दर को यहाँ तक आदेश कर जाते है कि अपनी चाची और बहिन का पता लगाना और उनकी सम्पत्ति मय उस दिन

तक के सूद के, उन्हें लौटा देना और अगर उनका पता न लगे तो तू भी विवाह मत करना, अपने शरीर के साथ ही वंश को समाप्ति कर देना।—क्योंकि इस कलङ्क के साथ वंश-वृद्धि करना मानो कलङ्क को ज़िन्दा रखना है! 'पुरस्कार' में मधूलिका, 'नास्तिक प्रोफेसर' में कुंजविहारी, 'खूनी' में खूनी, 'साइकिल की सवारी' में साइकिल का सवार, 'मिठाईवाला' में बच्चों को बहलानेवाला मिठाईवाला, 'अनुष्ठान' के सारे पात्र तथा 'उसकी माँ' में माँ और बच्चे सभी भावुक हैं। '३०२' में शान्ति-प्रकाश और उसकी पत्नी, 'कुँवर साहब मर गये' में स्वयं कुँवर साहब, 'किस्मत' में किशोरी और रामकिशोर दोनों, 'मास्टर साहब' मे विनायक, 'पत्नी व्रत' में लक्ष्मी, पिकनिक में वकील साहब, 'इन्दु की बेटी' में रामलाल तथा 'रामलीला' में रामरतन—सभी भावुक चरित्र हैं। और उनकी यह भावुकता मानव-प्रकृति की एक शक्तिशाली रागात्मक वृत्ति है।

कहानी में मनोविज्ञान

यों तो साधारणतया प्रत्येक कला-कृति में मनोविज्ञान का थोड़ा-बहुत आधार रहता है; किन्तु कहानी का मनोविज्ञान के साथ अन्योन्याश्रय शाश्वत सम्बन्ध है। ध्यान रखने की बात है कि यहाँ 'मनोविज्ञान' शब्द को हम व्यापक अर्थ में ले रहे हैं। क्योंकि कहनेवाले यह भी कह सकते हैं कि मनोविज्ञान को कहानी के अवलम्बन की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। किन्तु तब हमें स्पष्ट रूप से यह भी कहना पड़ेगा कि यदि हमारे जीवन में समस्याएँ, हमारे अपने मन के भीतर

दुविधा, संशय, उधेड़-बुन तथा कोई रहस्य न होता, तो मनो-विज्ञान का जन्म ही न हुआ होता। और मन के भीतर की यह दुविधा और उधेड़-बुन ही कहानी का मूल आधार है। अर्थात् मनोविज्ञान और कहानी—दोनों का उद्गम-स्थल केवल मनुष्य का मन है।

कहा जा सकता है कि घटनामूलक कहानी में मनोविज्ञान का आधार बहुत कम रहता है। किन्तु कोई भी घटना यदि मनुष्य के जीवन से सम्बन्धित है, तो उसका सम्बन्ध मनुष्य के मन के साथ होना अनिवार्य है। मनुष्य जो कुछ बोलता है उसमें या तो उसकी साधारण प्रकृति का आधार रहता है, या किसी-न-किसी प्रतिक्रिया का। और दोनों प्रकार के कथनों और कार्य-कलापों में मनोवैज्ञानिक तथ्यों और सिद्धान्तों का पालन अवश्यम्भावी है। तभी तो स्वर्गीय प्रेमचन्द जी को कहना पड़ा था कि गल्प का आधार अब घटना नहीं, मनोविज्ञान की अनुभूति है। यद्यपि यहाँ मनोविज्ञान की अनुभूति के स्थान पर मनोवैज्ञानिक तथ्य कहना अधिक युक्ति-युक्त होगा।

कहानी में मनोविश्लेषण

सचमुच आज हिन्दी कहानी में मनोविश्लेषण की एक बाढ़-सी आ गयी है। जिसे देखो वही कहानी में मन की गुत्थियाँ सुलझाने लगता है। किन्तु मनोविश्लेषणात्मक कहानी प्रत्येक कथाकार नहीं लिख सकता। इस पद्धति के कथाकारों का एक विशेष प्रकार का द्वन्द्वात्मक जीवन होता है। मनुष्य स्वतः अपने आप में एक महान प्रश्न है—स्वयं उसके अन्दर असंख्य

उलझनें हैं। कुछ उसके निजी जीवन के दैहिक स्वार्थ हैं; कुछ उसके आदर्शों, सिद्धान्तों और विचारों का उन स्वार्थों के साथ संघर्ष है। और यही मानसिक संघर्ष और द्वन्द्व मनोविश्लेषण का क्षेत्र हुआ करता है।

मनुष्य ज्यों-ज्यों शिक्षा, संस्कार, ज्ञान और बुद्धि में वयस्क और परिपक्व होता जाता है, त्यों-त्यो वह स्वतः एक पहेली बनता जाता है। मानो वह स्वयं अपने आपको समझने की चेष्टा करता है। और इस चेष्टा में वह स्वयं अपनी तीव्र से तीव्र आलोचना करता है। वह अपने आपसे लड़ता है, अपने को ही बुरा-भला कहता है। कभी-कभी तो उसके मन पर इस संघर्ष की इतनी अधिक प्रतिक्रिया होती है कि उसकी साधारण दिनचर्य्या तक रुक जाती है। कभी-कभी वह सर्वथा एकान्तवासी हो उठता है। मनुष्य की छाया भी उसे सहन नहीं होती। इन मानसिक द्वन्द्वों की लड़ाइयों का मूल आधार वे वृत्तियाँ, विचार और संकल्प हुआ करते हैं, जिनके निष्कर्ष परस्पर विरोधी हुआ करते हैं। यही कारण है कभी-कभी मनुष्य अपने विचारों में ही नहीं, जीवन और कार्य्य-क्षेत्र में भी परस्पर विरोधी आचरण कर बैठता है। इन्हीं आचरणों और नाना रूप-रेखाओं का सजीव वर्णन और चित्रण मनोविश्लेषण कहलाता है।

जैनेन्द्र जी की कहानी 'अपना-अपना भाग्य' में जहाँ तहाँ कुछ ऐसे वाक्य कथोपथन में फूट पड़े हैं, जिनमें मनोविश्लेषण बोलता है। जैसे—

"मैंने कहा—"दस का नोट ही दे दो।"

लफपकाकर मित्र मेरा मुँह देखने लगे—"अरे यार, बजट बिगड़ जायगा। हृदय में जितनी दया है, पास में उतने पैसे तो नहीं !"

"तो जाने दो। यह दया ही इस जमाने में बहुत है !"—मैंने कहा।"

इस स्थल पर यह कथन कि 'यह दया ही इस जमाने में बहुत है' व्यङ्ग्यरूप में स्वयं वकील के उन साथी महोदय की भी कम खबर नहीं लेता, जो केवल मौखिक सहानुभूति दिखलाकर रह जाते हैं। और उनके इस चरित्र पर भी यथेष्ट प्रकाश डालता है कि वे वकील साहब से तो कह देते हैं कि 'दस का नोट ही दे दो', पर स्वयं उनसे नहीं देते बनता

इसी कहानी में—

"बालक कुछ ठहरा। मैं असमंजस में रहा। तब वह द्रुत-गति से एक ओर बढ़ा और कुहरे में मिल गया। हम भी होटल की ओर बढ़े। हवा तीखी थी, हमारे कोटों को पार कर बदन में तीर-सी लगती थी।

सिकुड़ते हुए मित्र ने कहा—'भयानक शीत है। उसके पास कम—बहुत कम कपड़े थे।...!'"

यहाँ वे मित्र जैसे अपने आप से लड़ते प्रतीत होते हैं।—मानो यह कहना ही चाहते हों कि "ऐसे अवसर पर हमें उसे कोई कपड़ा देना चाहिये था।"

फिर—

"'यह संसार है यार।' मैंने स्वार्थ की फिलासफी सुनाई—

'चलो, पहले बिस्तर में गर्म हो लो, फिर किसी और की चिन्ता करना !'

उदास होकर मित्र ने कहा—'स्वार्थ !—जो कहो, लाचारी कहो, निठुराई कहो—या बेहयाई !'"

इस स्थल पर मित्र के हृदय की समवेदना बोलती है; क्योंकि उसने अवसर आने पर भी उस लड़के की क्रियात्मक सहायता नहीं की।

इस कहानी के अन्त में—"मोटर मे सवार होते ही थे कि यह समाचार मिला—'पिछली रात, एक पहाड़ी बालक, सड़क के किनारे, पेड़ के नीचे ठिठुर कर मर गया।'

मरने के लिए उसे वही जगह, वही दस बरस की उम्र और वही काले चिथड़ों की क़मीज़ मिली। आदमियों की दुनियाँ ने बस यही उपहास उसके पास छोड़ा था !"

आज आदमियों की यह दुनियाँ कैसी हो गई है, इसका जीता जागता उदाहरण यह अपनी, अपने समाज की, कहानी है। वकील साहब ने अपने लिए निठुराई (हृदयहीनता) और बेहयाई (बेशर्मी) शब्दों का प्रयोग करके अपनी मनःस्थिति का परिचय दिया है और उनके मित्र ने अपनी ही घटना पर ऐसी मर्मस्पर्शी कहानी लिख कर।

और मनःस्थितियों के इसी चित्रण को मनोविश्लेषण कहते हैं।

'बड़े घर की बेटी' में लालबिहारी और आनन्दी, 'उसने कहा था' में लहनासिंह, 'पुरस्कार' में मधूलिका, 'उसकी माँ' मे जमींदार साहब, '३०२' में शान्तिप्रकाश, 'पत्नी-व्रत' में लक्ष्मी,

'इन्दु की बेटी' में रामलाल तथा 'रामलीला' में रामरतन नामक पात्रों की चरित्र-सृष्टि मनोविश्लेषण के रूप में ही की गई है।

कहानी मे व्यक्ति और समाज

कहानी जीवन-रहस्य की अभिव्यञ्जना है। जीवन में रहस्य रहते हैं। रहस्य व्यक्ति के मानस में निवास करते हैं और उद्‌घाटन उनका घटनाओं द्वारा होता है। व्यक्ति समाज का अंग होता है। इस प्रकार प्रत्येक कहानी प्रकारान्तर से समाज की ही कहानी हुआ करती है। यह बात दूसरी है कि कहानी यदि ऐतिहासिक घटना के आधार पर लिख दी गयी, तो वह ऐतिहासिक कहलाने लगी। लेकिन घटना जिस समय की है, यदि लेखक उसी समय उसे कहानी का रूप दे दे, तो उस काल और युग के लिए वह कहानी सामाजिक ही कहलाती है। अर्थात् समाज की कहानी ही कालान्तर मे ऐतिहासिक बन जाती है।

यहाँ पहले ही हम यह स्वीकार किये लेते हैं कि कहानी व्यापक रूप में समाज की होती है। किन्तु इसी स्थल पर हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जब तक कहानी में किसी चरित्र-विशेप की सृष्टि नहीं होती. किसी व्यक्ति की अन्तरात्मा का यथार्थ विशिष्ट प्रतिबिम्ब नहीं झलकता. उसके जीवन के रागात्मक उच्छ्वास शब्दों की काया नहीं ग्रहण क [illegible], तब तक कोई भी कहानी सही अर्थों में कहानी नहीं होती। आज जो नित्य सैकड़ों कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित हुआ करती है, काल के अबाध प्रवाह में वे कितने दिन जीवित रहेंगी!

तात्पर्य यह है कि कहानी मूल रूप में व्यक्ति-विशेष की ही होती है। सम्बन्ध उसका कतिपय व्यक्तियों तथा सामाजिक संस्कारों, रूढ़ियों और परम्पराओं से रहता है। और इसी कारण कहानी व्यक्तिगत होते हुए भी सामाजिक होती है।

एक उदाहरण—

'अज्ञेय' की 'इन्दु की बेटी' कहानी को ही लीजिये। सारी कथा में रामलाल के भावुक व्यक्तित्व की छाप बोलती है। अब यहाँ इस बात पर विचार करने की आवश्यकता है कि इस कहानी में समाज-भाग कितना है।

प्रारम्भ में गाड़ी के अन्दर रामलाल को गरमी का अनुभव होता है। उसके कपड़े पसीने से तर हो जाते हैं। साथ में कोई नंगे बदनवाला गँवार बैठा है, जिसके शरीर से बू आ रही है। रामलाल उधर से अपना ध्यान हटाकर जो पत्नी की ओर ले जाता है, तो उसकी पुरानी कुढ़न फिर जाग उठती है।

अर्थात् जिस समय की यह कहानी है, उस समय रामलाल यथेष्ट पढ़ा-लिखा होने पर भी यात्रा तीसरे दर्जे में ही करता है। उसकी स्त्री भोजन स्वयं बनाती, कपड़े स्वयं धोती, घर में झाड़ू स्वयं लगाती और चक्की भी स्वयं पीसती है। इस प्रकार बी० ए० होने पर भी रामलाल निम्नवर्ग का ही व्यक्ति बना हुआ है। क्योंकि मासिक आय उसकी केवल बीस रुपये के लगभग है। और इस कारण उस समय की समाज-व्यवस्था से रामलाल को काफी असंतोष भी है। वह इतना पढ़ा-लिखा युवक है और आय इतनी कम! और पत्नी भी जो उसे मिली

है, वह इतनी अपढ़, बेवकूफ़, कुरूप और गँवार है कि रामलाल की दृष्टि में वह रसोईदार या महरी से अधिक महत्त्व नहीं रखती !

किन्तु इस कथा में रामलाल को असंतोष अपनी आर्थिक स्थिति पर उतना नहीं है, जितना अपनी इस अवस्था पर कि जिस गाय को वह मंडी से हट्टी कट्टी समझ कर लाया था, वह अभी दूध ही नहीं देती ! अर्थात् इन्दु को अपनी यौवन-गरिमा का थोड़ा भी ज्ञान नहीं है। उसके हृदय में कभी वह प्यास ही नहीं जगती, जिसे रामलाल दाम्पत्य जीवन का प्रमुख लक्षण मानता है। वह सोचता रह जाता है कि इन्दु उससे हँसकर बोले ; उसके साथ ठठोली करे, उसकी चुटकियाँ ले। एक शब्द भी जो मुँह से निकाले, तो अपना निर्बन्ध तारुण्य और नवल नारीत्व उसमें इस तरह उद्दीप्त कर दे, जिस तरह लता की हरी-हरी पत्तियों के बीच में अरुण पुष्प। उसने इतना ही क्यों कहा कि प्यास लगी है। कान के पास मुँह ले जाकर चुपके-से यह क्यों नहीं कह दिया कि तुमको प्यास नहीं लगती क्या ? मुझको तो लगी है बड़े जोर की। मेरा कण्ठ सूख रहा है। मुझे चक्कर आ रहा है ! हाय मैं मरी। और बस, यही वह पृष्ठ-भूमि है जिस पर खड़ी होकर यह कहानी रामलाल के विशिष्ट व्यक्तित्व को इतना महान बना देती है !

किन्तु इस कहानी में समाज-व्यवस्था की आलोचना का अंश अपेक्षाकृत बहुत ही कम है। केवल रामलाल की रागात्मक वृत्तियों ने इसको इतना सजीव बना दिया है।

सच पूछिये तो कहानी की परिभाषा में एक दो वाक्य लिख देना कहानी जैसे गम्भीर विषय और उसकी उत्तरोत्तर विकासशील कला के साथ अन्याय करना है। विश्व साहित्य की बात जाने दीजिये। हमारी हिन्दी भाषा के साहित्य में ही कहानी

कहानी की परिभाषा

ने बचपन मे अपना जो स्वरूप प्रकट किया, वह आधुनिक कहानी की रूप-रेखा से सर्वथा भिन्न था। हिन्दी-कहानी के उत्थान कालीन लेखकों में प्रेमचन्द, प्रसाद, कौशिक—यहाँ तक कि सुदर्शन, चतुरसेन और उग्र ने भी पहले कोरे आदर्शवाद और फिर कहीं-कहीं थोड़े बहुत आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को ही कहानी की आत्मा का रूप दिया है। किन्तु दिवंगत होने के कुछ दिन पूर्व स्व० प्रेमचन्द जी को भी कहानी के सम्बन्ध में अपना मत बदलना पड़ा था।

फोस्टर ने लेखकों के लिए, कहानी की परिभाषा, इस प्रकार की है—कहानी घटनाओं का वह संबद्ध क्रम है, जो किसी परिणाम पर पहुँचता है।

एडगर एलन पो का कथन है—

कहानी एक प्रकार का वर्णनात्मक गद्य है, जिसके पढ़ने में आध घंटे से लेकर एक घंटे तक का समय लगता है।

पोकाक का मत है—

कहानी का हरएक भाग प्रसंगानुकूल और उचित होना चाहिये। न तो उसमें भाव दुरूहता हो, न शब्द जाल। प्रत्येक शब्द, शब्द-समूह या वाक्य का सम्बन्ध वस्तु, चरित्र या वाता-

वरण से होना आवश्यक है। जब हम कहानी पढ़ चुकें, तो हमें ऐसा प्रतीत हो कि यदि हम एक भी पंक्ति छोड़ गये होते, तो कहानी के कुछ आवश्यक अंश लुप्त हो जाते।

ह्यू वाकर कहते हैं—जो मनुष्य करे, वही कहानी है।

एक अन्य अँगरेज़ लेखक का कहना है—

कहानी संकट या उलझन में पड़े हुए पात्रों का कला-पूर्ण वर्णन है, जिसका कोई निश्चित परिणाम हो!

डा० श्रीकृष्णलाल ने कहानी-कला की छानबीन करते हुए बतलाया है—

आधुनिक कहानी साहित्य का एक विकसित कलात्मक रूप है, जिसमें लेखक कल्पना शक्ति के सहारे, कम से कम पात्रों और चरित्रों के द्वारा, कम-से कम घटनाओं और प्रसंगों की सहायता से, मनोवांछित कथानक, चरित्र, वातावरण दृश्य अथवा प्रभाव की सृष्टि करता है।

श्री इलाचन्द्र जोशी वक्तव्य है—

जीवन का चक्र नाना परिस्थितियों के संघर्ष से उलटा-सीधा चलता रहता है। इस सुवृहत् चक्र की किसी विशेष परिस्थिति की स्वाभाविक गति का प्रदर्शन ही कहानी होता है।

श्री भारतीय लिखते हैं—कहानी उस महान घटना का संक्षिप्त वर्णन है जो सर्वाङ्गपूर्ण और साधारण से भिन्न हो और जिसमें मानव-प्रकृति का कोई मौलिक रहस्य व्यक्त किया गया हो।

अपना मत हम पहले ही प्रकट चुके है।

यों तो कहानी को हम कई अंगों में विभाजित कर सकते हैं;

कहानी के मुख्य अंग

जैसे—कथानक, दृश्य, कथोपकथन, दुविधा की तीव्रता तथा चरम परिणति। किन्तु इनमें कथानक, दृश्य, तीव्र दुविधा तथा चरम परिणति का निर्वाह अपेक्षाकृत असाधारण होता है।

वृत्त

वृत को कथानक भी कहते हैं। यह शब्द हिन्दी में बहुधा Plot शब्द के स्थान पर प्रयुक्त होता है। कहानी में आये हुए पात्रों के जो कार्य-कलाप संयोग और प्रसंग बनकर पहले किसी एक अनिश्चित परिणाम पर पहुँचाते हैं, वे सब मिलकर कथानक या वृत्त कहलाते है। अँगरेजी कहानियों की देखादेखी हिन्दी कहानी में भी पहले कथानक बड़े महत्त्व की वस्तु मानी जाती थी। किन्तु मनोविश्लेषण जब से कहानी में विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा, तब से कथानक का महत्त्व अपेक्षाकृत कम हो गया है। समय के प्रवाह से आज भले ही कथानक को विशेष महत्त्व न दिया जाय, किन्तु वास्तव में कहानी में कथानक का संस्थापन अनिवार्य है।

दृश्य

प्रत्येक कहानी प्रायः तीन चार दृश्यों मे विभक्त होती है। यह विभाजन स्पष्ट करने के लिए संख्याओं तक का प्रयोग किया जाता है। एक समय था, जब कहानी दस-बारह दृश्यों तक चला करती थी। किन्तु आज कहानी की सीमा कम करने की ओर लेखकों का विशेष ध्यान रहता है। इसी कारण कहानी में जितने कम दृश्य

रहते हैं, लघुता की दृष्टि से वह उतनी ही सफल मानी जाती है। यहाँ तक कि कोई कोई कहानी तो केवल एक दृश्य में पूरी हो जाती है। किसी भी दृश्य में जब तक कम-के-कम दो पात्र एकत्र नहीं होते, तब तक वार्तालाप होने की परिस्थिति उत्पन्न नहीं होती और जब तक वार्तालाप नहीं होता, तब तक दृश्य प्रायः मूक रहता है। दृश्य-काव्य (नाटक) में वार्तालाप अनिवार्य रहता है। किन्तु कहानी में मनोविश्लेषण-पद्धति अथवा वातावरण के चित्रण द्वारा दूसरे पात्र की उपस्थिति और बिना वार्तालाप के भी काम चल जाता है। किन्तु जिस दृश्य में परिस्थिति नाटकीय हो उठती है और बिना उत्तेजना (Excitement) उत्पन्न किये दृश्य का सारा प्रभाव ही शिथिल पड़ जाने की आशंका रहती है, वहाँ द्वितीय पात्र की उपस्थिति अनिवार्य हो जाती है। ऐसे दृश्यों का नाम साहित्य की भाषा में 'नाटकीय' (Dramatic) होता है। घटना-मूलक कहानियों की चरम परिणति (Climax) प्रायः ऐसे ही दृश्यों द्वारा होती है।

प्रत्येक दृश्य अपने आप मे पूर्ण होता है। और प्रत्येक दृश्य में एक-न-एक चरम परिणति भी आवश्यक रहती है। किन्तु जिस दृश्य में पाठकों को किसी न किसी रस विशेष का अनुभव नहीं होता, वह निर्जीव माना जाता है। इसीलिए प्रत्येक स्थिति दृश्य नहीं हुआ करती। देखने योग्य स्थिति ही दृश्य कहलाती है। वर्णनात्मक शैली की कहानी में कभी-कभी ऐसे दृश्य उपस्थित किये बिना भी काम चल जाता है। किन्तु विश्व-साहित्य में आज जिन कहानियों का स्थान अक्षुण्ण माना जाता है,

उनमें कदाचित् हो कोई ऐसी हो, जिसमें दृश्य उत्पन्न करने की चेष्टा न की गई हो! इन पंक्तियों के लेखक को तो ऐसी किसी भी कहानी का स्मरण नहीं, जिसमें कोई दृश्य न हो।

तीव्र दुविधा

तीव्र दुविधा कहानी की एक विशेषता मानी जाती है। ज्यों-ज्यों कहानी प्रसंगानुसार अग्रसर होती जाती है, त्यों-त्यों पाठक की यह उत्सुकता बढ़ती ही जाती है कि अन्त में होता क्या है! यह उत्सुकता प्रायः एक-न एक संशय या दुविधा के रूप में होती है और कथा के अन्तिम परिणाम तक पहुँचते पहुँचते अत्यन्त तीव्र हो जाती है। अँगरेजी में इसे Suspense कहते हैं। जिस कथा में यह गुण नहीं उत्पन्न होता, वह निर्जीव-सी रहती है। संसार के कथा-पाठकों में एक वर्ग ऐसा भी है जो इसी गुण को कहानी की कसौटी मानता है।

यह दुविधा कथा का मूल तन्तु हुआ करती है। सारी कथा मूलरूप में इसी तन्तु द्वारा निर्मित रहती है। यहाँ तक कि अन्तिम परिणाम के सम्बन्ध में एक के स्थान पर दो और कभी-कभी तो तीन तीन प्रकार की सम्भावनाएँ और आशंकाएँ होने लगती हैं। किन्तु परिणाम क्या होगा, निश्चयात्मक रूप से यह कहना सभी पाठकों के लिए दुष्कर होता है। और यह दुष्कृति ही इस दुविधा के लिए महत्त्व की वस्तु होती है। विश्व के कथा साहित्य में आज वही कहानियाँ सफल और श्रेष्ठ मानी जाती हैं जिनमें यह दुविधा अत्यन्त तीव्र होती है। इस तीव्र दुविधा को हम अनिश्चय, संशय और रहस्य भी कह सकते हैं।

चरम परिणति

कहानी का सब से अधिक प्रच्छन्न भाग चरम परिणति या अन्तिम परिणाम माना जाता है; यद्यपि कतिपय ऐसी भी कहानियाँ लिखी जाती हैं, जिनमें अन्तिम परिणाम कथा के पूर्व ही में बतला दिया जाता है। किन्तु उस दशा मे कथा के अन्त में चरित्र-सम्बन्धी किसी घटना-वैचित्र्य किंवा चमत्कार-विशेष की सृष्टि करनी पड़ती है। और यह सृष्टि कथा में अन्त के पूर्व तक जितनी गुप्त रहती है, कथा उतनी ही प्रभावशालिनी बन जाती है।

इस चरम परिणति को कहानी में प्रायः अधिकाधिक रहस्यात्मक रक्खा जाता है। कभी यदि उसका एक सूत्र कहीं खोल दिया जाता है, तो तत्काल उसके विरोध में दूसरा सूत्र इतना अधिक उलझा दिया जाता है कि वह खुला हुआ सूत्र भी पुनः उसमे इस बुरी तरह उलझ जाता है कि सुलझाव दुष्कर हो उठता है।

कुछ लेखक इस चरम परिणति का प्रयोग एक भयानक धक्के (Shock) के रूप में करते हैं। और यह आघात चरित्र-सृष्टि का मुख्य का हेतु होता है। 'पत्नीव्रत' कहानी के खन्ना साहब और 'रामलीला' कहानी के राम (और रावण) इसी प्रकार की चरम परिणति (Climax) के प्रतीक हैं।

किन्तु अन्तिम परिणाम और चरम परिणति मे थोड़ा अन्तर भी है। जब कभी किसी कहानी में अन्तिम परिणाम पहले बतला दिया जाता है, तब उस कहानी का अन्त केवल

इस परिणाम के स्पष्टीकरण का भाग बन जाता है और ऐसी अवस्था में चरम परिणति की सारी प्रखरता और तीव्रता शिथिल और मन्द पड़ जाती है।

अर्थात् कहानी की एक ऐसी शैली भी होती है, जिसमें अन्तिम परिणाम तो होता है, पर चरित्र-विशेष की चरम परिणति नहीं होती।

आजकल कथा का टेकनीक (Technique) इतना विकसित हो गया है कि चरम परिणति के सब से ज्वलन्त अंश को अन्तिम भाग से पूर्व प्रकट कर देना कथा का एक बहुत बड़ा दोष माना जाता है। क्योंकि इस प्रकार की कहानी में सारा रहस्योद्घाटन उपयुक्त स्थल—अन्त—के पूर्व ही कर दिया जाता है और इसका परिणाम यह होता है कि उस रहस्य का सारा चमत्कार उचित समय से पहले ही प्रकट होकर मर जाता है।

इस दोष को कथा के मर्मज्ञ कलाकार भ्रूण-हत्या के समान मानते [illegible] 'नायिका' कहानी में कुछ इसी प्रकार का दोष आ गया है।

[illegible] से हिन्दी कहानी का जन्मकाल सन् १९०० ई० [illegible] माना जाता है। इसी वर्ष काशी नागरी प्रचा-[illegible] सभा के अनुमोदन से प्रयाग के इंडियन [illegible] [illegible] सरस्वती [illegible] [illegible] का प्रकाशन आरम्भ किया था। उन [illegible] प्रकाशित होती थी, [illegible] अनुवादित [illegible] थी। [illegible]

के तत्कालीन मैनेजर श्री गिरजाकुमार घोष स्वयं लाला पार्वती-नंदन के नाम से अनुवादित कहानियाँ प्रकाशित करवाते थे। इसके अतिरिक्त इस पत्र में मिर्जापुर-निवासी श्रीप्रमथनाथ भट्टाचार्य 'भट्टाचार्य' के नाम से लिखते थे—और साथ ही साथ श्री बंगमहिला जी भी बँगला की अनुवादित कहानियाँ प्रकाशित करवाती थीं। किन्तु इसी वर्ष श्री किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' कहानी प्रकाशित हुई, जिसके सम्बन्ध मे कहा जाता है कि वह सम्भवतः मौलिक थी। इसके बाद पॉच छै वर्षों तक कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा श्री गिरिजादत्त वाजपेयी ने जो दो एक कहानियाँ लिखीं भी, तो उनसे उन्हें कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। पर इन प्रयत्नो से प्रकट हो गया कि 'सरस्वती' का पाठक वर्ग मौलिक कहानियॉ पढ़ने के लिए अतीव उत्सुक किंवा अधीर हो उठा है। तब मिर्जापुर की उन्हीं श्री बंगमहिला ने, जो तब तक बँगला की अनुवादित कहानियॉ 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ दिया करती थी, सन् १९०७ ई० मे एक ऐसी मौलिक कहानी प्रकाशित करवाई, जिसे पढ़कर हिन्दी-संसार में हलचल मच गई। इस कहानी का नाम है "दुलाईवाली"। आज की कहानी के बहुत से गुण इस कहानी में पाये जाते है।

हिन्दी-कहानी के जन्म-काल के ये प्रारम्भिक दस वर्ष अत्यन्त साधारण गति से व्यतीत हुए। किन्तु ग्यारहवें वर्ष मे काशी के 'इन्दु' पत्र द्वारा एक ऐसे कलाकार का उदय हुआ, हिन्दी का कथा-साहित्य जिसकी जगमग ज्योति से सदा आलो-

कित रहेगा। वे हैं श्री जयशंकर 'प्रसाद'। सन् १९११ में 'ग्राम' नामक उनकी प्रथम कहानी 'इन्दु' में प्रकाशित हुई। 'इन्दु' पत्र के साथ 'प्रसाद' जी का घनिष्ट सम्बन्ध था। अतएव इस पत्र के द्वारा 'प्रसाद' जी के साथ-साथ और भी कई मौलिक लेखकों का उदय हुआ। श्री जी० पी० श्रीवास्तव तथा श्री विश्वम्भरनाथ जिज्जा उनमें आज भी वर्तमान हैं। यद्यपि इसके बाद की प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण श्री जिज्जा जी को अपना क्षेत्र बदला देना पड़ा।

यह दशक मौलिक हिन्दी कहानी के विकास मे अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। सन् १९१३ में 'सरस्वती' ने हिन्दी के कथा-साहित्य को श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक जैसा प्रतिभा-शाली कथाकार दिया, और सन् १९१५ मे श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का उदय हुआ। गुलेरी जी यद्यपि कहानी-लेखन की ओर विशेष रूप से अग्रसर नहीं हुए, किन्तु उनकी 'उसने कहा था' कहानी ने हिन्दी में एक ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त कर लिया। तदनन्तर सन् १९१६ मे पुनः एक ऐसे कलाकार का उदय हुआ जिसकी महान प्रतिभा से सारा हिन्दी संसार आलोकित हो उठा। और वे हैं श्रीप्रेमचन्द। इसके बाद सन् १९२० में श्री सुदर्शन ने हिन्दी कथा के आँगन से प्रकट होकर एक प्रकार से हिन्दी कहानी के मौलिक विकास पर मुहर लगा दी।

हिन्दी-कहानी का यह आदिकाल आदर्शवादी कहानियों का युग माना जाता है। यद्यपि यह युग अब एक प्रकार से समाप्त हो

गया है, किन्तु इसका ऐतिहासिक महत्त्व तो सदा अक्षुण्ण रहेगा। आज की कहानी में यथार्थवाद की मात्रा विशेष है। एक ओर श्री जैनेन्द्रकुमार, इन पंक्तियों के लेखक तथा 'अज्ञेय' ने यथार्थवाद के साथ-ही-साथ हिन्दी में मनोविश्लेषण पद्धति का प्रचलन किया, तो दूसरी ओर सर्वश्री यशपाल, पहाड़ी, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा तथा लक्ष्मीचन्द्र ने प्रगतिवाद की ओर ध्यान दिया। यह स्थिति उत्तरोत्तर विकास की ओर बढ़ रही है। प्रगतिवादी साहित्य में भी अब कला का स्थायित्व झलकने लगा है। और यदि अतिशयोक्ति न समझी जाय तो मैं कहूँगा कि आज हिन्दी में कम से कम सौ ऐसी मौलिक कहानियाँ उपस्थित हैं, जिन्हें हम बड़े गौरव और साहस के साथ केवल प्रान्तीय भाषाओं के समक्ष ही नहीं, विश्व-साहित्य के समक्ष भी निस्संकोच रख सकते हैं।

दारागंज
प्रयाग

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

सूची

बड़े घर की बेटी

(श्री प्रेमचन्द)

बेनीमाधवसिंह गौरीपुर गाँव के जमीदार और नम्बरदार थे। उनके पितामह किसी समय बड़े धन-धान्य-सम्पन्न थे। गाँव का पक्का तालाब और मन्दिर, जिनकी अब मरम्मत भी मुश्किल थी, उन्हीं के कीर्त्तिस्तम्भ थे। कहते है, इस दरवाजे पर हाथी झूमता था, अब उसकी जगह एक बूढ़ी भैंस थी, जिसके शरीर में पंजर के सिवा और कुछ भी शेष न रहा था। पर दूध शायद बहुत देती थी, क्योंकि एक-न-एक आदमी हाँड़ी लिये उसके सिर पर सवार ही रहता था। बेनीमाधवसिंह अपनी आधी से अधिक सम्पत्ति वकीलों की भेंट कर चुके थे। उनकी वर्त्तमान आय वार्षिक एक हजार से अधिक न थी। ठाकुर साहब के दो बेटे थे। बड़े का नाम श्रीकण्ठसिंह था। उसने बहुत दिनों के परिश्रम और उद्योग के बाद बी० ए० की डिग्री प्राप्त की थी। अब एक दफ्तर में नौकर था। छोटा लड़का लाल-बिहारीसिंह दोहरे बदन का सजीला जवान था। मुखड़ा भरा हुआ, चौड़ी छाती, भैंस का दो सेर ताजा दूध वह रोज सबेरे पी जाता था। श्रीकण्ठसिंह की दशा उसके बिलकुल विपरीत थी। इन नेत्र-प्रिय गुणों को उन्होंने इन्हीं दो अक्षरों पर न्योछावर कर दिया था। इन दो अक्षरों ने उनके शरीर को निर्बल और चेहरे को कान्तिहीन बना दिया था। आयुर्वैदिक

ओषधियों पर उनका अधिक विश्वास था। साँझ-सवेरे उनके कमरे से प्रायः खरल की सुरीली, कर्णमधुर ध्वनि सुनाई दिया करती थी। लाहौर और कलकत्ते के वैद्यों से बड़ी लिखा-पढ़ी रहती थी।

श्रीकण्ठ इस अँगरेजी डिग्री के अधिपति होने पर भी अँगरेजी सामाजिक प्रथाओं के विशेष प्रेमी न थे। बल्कि वह बहुधा बड़े जोर से उनकी निन्दा और तिरस्कार किया करते थे। इसी से गाँव में उनका बड़ा सम्मान था। दशहरे के दिनों में वह बड़े उत्साह से रामलीला में सम्मिलित होते और स्वयं किसी-न-किसी पात्र का पार्ट लेते। गौरीपुर में रामलीला के वही जन्म-दाता थे। प्राचीन हिन्दू-सभ्यता का गुणगान उनकी धार्मिकता का प्रधान अंग था। सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा के तो वह एक मात्र उपासक थे। आजकल स्त्रियों की कुटुम्ब मे मिलजुल कर रहने की ओर जो अरुचि होती है, उसे वह जाति और देश के लिए बहुत ही हानिकर समझते थे। यही कारण था कि गाँव की ललनाएँ उनकी निन्दक थीं। कोई-कोई तो उन्हें अपना शत्रु समझने में भी सङ्कोच न करती थीं, स्वयं उनकी पत्नी को ही इस विषय मे उनसे विरोध था। वह इसलिए नहीं कि उसे अपने सास, ससुर, देवर जेठ से घृणा थी, बल्कि उसका विचार था कि यदि बहुत कुछ सहन करने और तरह देने पर भी परिवार के साथ निर्वाह न हो सके तो आये दिन की कलह से जीवन को नष्ट करने की अपेक्षा यही उत्तम है कि अपनी खिचड़ी अलग पकायी जाय।

आनन्दी एक बड़े कुल की लड़की थी। उसके बाप एक छोटी

सी रियासत के तालुकेदार थे। विशाल भवन, एक हाथी, तीन कुत्ते बाज, बहरी, सिकरे, झाड़ फानूस, आनरेरी मजिस्ट्रेट और ऋण, जो एक प्रतिष्ठित तालुकेदार के भोग्य पदार्थ है, वह सभी यहाँ विद्यमान थे। भूपसिंह नाम था। बड़े उदार-चित्त, प्रतिभाशाली पुरुष थे। पर दुर्भाग्य, लड़का एक भी न था। सात लड़कियाँ हुईं और दैवयोग से सब की सब जीवित रहीं। पहली उमंग में तो उन्होंने तीन ब्याह दिल खोल कर किये, पर जब पन्द्रह-बीस हजार का कर्ज सिर पर हो गया तो आँखें खुलीं, हाथ समेट लिये। आनन्दी चौथी लड़की थी। वह अपनी सब बहिनों से अधिक रूपवती और गुणशील थी। इसी से ठाकुर भूपसिंह उसे बहुत प्यार करते थे। सुन्दर सन्तान को कदाचित् उसके माता-पिता भी अधिक चाहते हैं। ठाकुर साहब बड़े धर्म-सङ्कट में थे कि इसका विवाह कहाँ करें। न तो यही चाहते थे कि ऋण का बोझ बढ़े और न यही स्वीकार था कि उसे अपने को भाग्यहीन समझना पड़े। एक दिन श्रीकण्ठ उनके पास किसी चन्दे का रुपया माँगने आये। शायद नागरी-प्रचार का चन्दा था। भूपसिंह उनके स्वभाव पर रीझ गये और धूमधाम के श्रीकण्ठसिंह का आनन्दी के साथ विवाह हो गया।

आनन्दी अपने नये घर में आई तो यहाँ का रङ्ग-ढङ्ग कुछ और ही देखा। जिस टीमटाम की उसे बचपन से आदत पड़ी हुई थी वह यहाँ नाम मात्र को भी न थी। हाथी घोड़ों का तो कहना ही क्या, कोई सजी हुई सुन्दर बहली तक न थी। रेशमी स्लीपर साथ लायी थी, पर यहाँ बाग कहाँ! मकान में खिड़-

कियाँ तक न थीं, न जमीन पर फर्श, न दीवार पर तस्वीरें। यह एक सीधे सादे देहाती गृहस्थ का मकान था। किन्तु आनन्दी ने थोड़े ही दिनों में अपने को इस नई अवस्था के ऐसा अनुकूल बना लिया; मानो उसने विलास के सामान कभी देखे ही न थे।

२

एक दिन दोपहर के समय लालबिहारीसिंह दो चिड़ियाँ लिये हुए आया और भावज से बोला, जल्दी से पका दो, मुझे भूख लगी है। आनन्दी भोजन बना कर इनकी राह देख रही थी। अब यह नया व्यञ्जन बनाने बैठी। हाँड़ी में देखा तो घी पाव भर से अधिक न था। बड़े घर की बेटी किफायत क्या जाने। उसने सब घी मांस में डाल दिया। लालबिहारी खाने बैठा तो दाल मे घी न था; बोला, दाल में घी क्यो नहीं छोड़ा?

आनन्दी ने कहा—घी सब मांस मे पड़ गया। लालबिहारी जोर से बोला, अभी परसों घी आया है, इतनी जल्दी उठ गया!

आनन्दी ने उत्तर दिया—आज तो कुल पाव भर रहा होगा। वह मैंने मांस में डाल दिया।

जिस तरह सूखी लकड़ी जल्दी से जल जाती है, उसी तरह क्षुधा से बावला मनुष्य जरा-जरा सी बात पर तिनक जाता है। लालबिहारी को भावज की यह ढिठाई बहुत बुरी मालूम हुई। तिनक कर बोला—मैके में तो चाहे घी की नदी बहती हो!

स्त्री गालियाँ सह लेती है मार भी सह लेती है, पर मैके की निन्दा उससे नहीं सही जाती। आनन्दी मुँह फेर कर

बोली—हाथी मरा भी तो नौ लाख का, वहाँ इतना घी नित्य नाई-कहार खा जाते है।

लालबिहारी जल गया, थाली उठा कर पटक दी। और बोला—जी चाहता है कि जीभ पकड़ कर खींच लूँ।

आनन्दी को भी क्रोध आया। मुँह लाल हो गया, बोली, वह होते तो आज इसका मजा चखा देते।

अब अपढ़ उजड्ड ठाकुर से रहा न गया। उसकी स्त्री एक साधारण जमींदार की बेटी थी। जब जी चाहता उस पर हाथ साफ कर लिया करता था। उसने खड़ाऊँ उठा कर आनन्दी की ओर जोर से फेंकी और बोला—जिसके गुमान पर भूली हुई हो, उसे भी देखूँगा और तुम्हें भी।

आनन्दी ने हाथ से खड़ाऊँ रोकी, सिर बच गया, पर अँगुली मे बड़ी चोट आई। क्रोध के मारे हवा से हिलते हुए पत्ते की भाँति काँपती हुई अपने कमरे में आकर खड़ी हो गई। स्त्री का बल और साहस, मान और मर्यादा पति तक है। उसे अपने पति के ही बल और पुरुषत्व का घमण्ड होता है। आनन्दी खून का घूँट पीकर रह गई।

४

श्रीकण्ठसिंह शनिवार को घर आया करते थे। बृहस्पति को यह घटना हुई थी। दो दिन तक आनन्दी कोपभवन में रही। न कुछ खाया न पिया; उनकी बाट देखती रही। अन्त में शनिवार को वह नियमानुकूल संध्या समय घर आये और बैठ कर कुछ इधर-उधर की बातें, कुछ देश और काल सम्बन्धी समाचार

तथा कुछ नये मुकद्दमों आदि की चर्चा करने लगे। यह वार्त्तालाप दस बजे रात तक होता रहा। गाँव के भद्र पुरुषों को इन बातों में ऐसा आनन्द मिलता था कि उन्हें खाने-पीने तक की सुधि न रहती थी। श्रीकण्ठ का पिण्ड छुड़ाना मुश्किल हो जाता था। यह दो-तीन घंटे आनन्दी ने बड़े कष्ट से काटे। किसी तरह भोजन का समय आया। पंचायत उठी। जब एकान्त हुआ तो लालबिहारी ने कहा—भैया, आप जरा घर में समझा दीजियेगा कि मुँह सँभाल कर बात-चीत किया करें; नहीं तो एक दिन अनर्थ हो जायगा।

बेनीमाधवसिंह ने बेटे की ओर से साक्षी दी—हाँ, बहू-बेटियों का यह स्वभाव अच्छा नहीं कि पुरुषों के मुँह लगें।

लालबिहारी—वह बड़े घर की बेटी हैं तो हम लोग भी कोई कुर्मी कहार नहीं हैं।

श्रीकण्ठ ने चिन्तित स्वर से पूछा—आखिर बात क्या हुई?

लालबिहारी ने कहा—कुछ भी नहीं, यों ही आप-ही-आप उलझ पड़ीं। मैके के सामने हम लोगों को तो कुछ समझतीं ही नहीं।

श्रीकण्ठ खा-पीकर आनन्दी के पास गये। वह भरी बैठी थी। यह हजरत भी कुछ तीखे थे। आनन्दी ने पूछा—चित्त तो प्रसन्न है।

श्रीकण्ठ बोले—बहुत प्रसन्न है, पर तुमने आज कल घर में यह क्या उपद्रव मचा रखा है?

आनन्दी की तेवरियों पर बल पड़ गये। झुँझलाहट के

सारे बदन में ज्वाला सी दहक उठी। बोली—जिसने तुम से यह आग लगायी है. उसे पाऊँ तो मुँह झुलस दूँ।

श्रीकण्ठ—इतनी गरम क्यों होती हो; बात तो कहो।

आनन्दी—क्या कहूँ, वह मेरे भाग्य का फेर है। नहीं तो एक गँवार छोकरा, जिसे चपरासगिरी करने का भी शऊर नहीं, मुझे खड़ाऊँ से मारकर यों न अकड़ता।

श्रीकण्ठ—सब साफ-साफ हाल कहो तो मालूम हो। मुझे तो कुछ पता नहीं।

आनन्दी—परसों तुम्हारे लाड़ले भाई ने मुझसे मांस पकाने को कहा। घी हाँडी में पाव भर से अधिक न था। वह मैंने सब मांस में डाल दिया। जब खाने बैठा तो कहने लगा, दाल में घी क्यों नहीं है? बस इसी पर मेरे मैके को भला-बुरा कहने लगा। मुझसे न रहा गया, मैंने कहा कि वहाँ इतना घी तो नाई कहार खा जाते हैं और किसी को जान भी नहीं पड़ता। बस, इतनी-सी बात पर उस अन्यायी ने मुझ पर खड़ाऊँ फेंक मारी। यदि हाथ से न रोक लेती तो सिर फट जाता। उसी से पूछो, मैंने जो कुछ कहा है, वह सच है या झूठ।

श्रीकण्ठ की आँखें लाल हो गईं। बोले—यहाँ तक हो गया। इस छोकरे का यह साहस!

आनन्दी स्त्रियों के स्वभावानुसार रोने लगी; क्योंकि आँसू उनकी पलकों पर रहते हैं। श्रीकण्ठ बड़े धैर्यवान् और शान्त पुरुष थे। उन्हें कदाचित् ही क्रोध आता था। पर स्त्रियों के आँसू

पुरुषों की क्रोधाग्नि भड़काने में तेल का काम देते हैं। रात भर करवटें बदलते रहे। उद्विग्नता के कारण पलक तक नहीं झपकी। प्रातःकाल अपने बाप के पास जाकर बोले—दादा, अब इस घर में मेरा निबाह न होगा।

इस तरह की विद्रोहपूर्ण बातें करने पर श्रीकण्ठ ने कितनी ही बार अपने कई मित्रों को आड़े हाथों लिया था। परन्तु दुर्भाग्य, आज उन्हें स्वयं वे ही बातें अपने मुँह से कहनी पड़ीं। दूसरों को उपदेश देना भी कितना सहज है!

बेनीमाधवसिंह घबरा कर उठे और बोले—क्यों?

श्रीकण्ठ—इसलिए कि मुझे भी अपनी मान-प्रतिष्ठा का कुछ विचार है। आप के घर में अब न्याय और हठ का प्रकोप हो रहा है। जिन को बड़ों का आदर सम्मान करना चाहिये वे उनके सिर चढ़ते हैं। मैं दूसरे का नौकर ठहरा, घर पर रहता नहीं, यहाँ मेरे पीछे स्त्रियों पर खड़ाऊँ और जूतों की बौछारें होती हैं। कड़ी बात तक चिन्ता नहीं, कोई एक की दो कह ले, यहाँ तक मैं सह सकता हूँ, किन्तु यह कदापि नहीं हो सकता कि मेरे ऊपर लात घूसे पड़ें और मैं दम न मारूँ।

बेनीमाधवसिंह कुछ जवाब न दे सके। श्रीकण्ठ सदैव उनका आदर करते थे। उनके ऐसे तेवर देखकर बूढ़े ठाकुर अवाक् रह गये। केवल इतना ही बोले—बेटा, तुम बुद्धिमान होकर ऐसी बात करते हो? स्त्रियाँ इसी तरह घर का नाश कर देती हैं। उनको बहुत सिर चढ़ाना अच्छा नहीं।

श्रीकण्ठ—इतना मैं जानता हूँ। आप के आशीर्वाद से ऐसा

मूर्ख नहीं हूँ। आप स्वयं जानते हैं कि मेरे ही समझाने बुझाने से इसी गाँव में कई घर सँभल गये; पर जिस स्त्री की मान-प्रतिष्ठा का मैं ईश्वर के दरबार में उत्तरदाता हूँ, उसके प्रति ऐसा घोर अन्याय और पशुवत् व्यवहार मुझे असह्य है। आप सच मानिए, मेरे लिए यही कुछ कम नहीं है कि लालबिहारी को कुछ दण्ड नहीं देता।

अब बेनीमाधवसिंह भी गरमाये। ऐसी बात और न सुन सके। बोले—लालबिहारी तुम्हारा भाई है. उससे जब कभी चूक हो, उसके कान पकड़ो। लेकिन...

श्रीकण्ठ—लालबिहारी को मैं अब अपना भाई नहीं समझता।

बेनीमाधवसिंह—स्त्री के पीछे ?

श्रीकण्ठ—जी नहीं, उसकी क्रूरता और अविवेक के कारण।

दोनों कुछ देर चुप रहे। ठाकुर साहब लड़के का क्रोध शान्त करना चाहते थे। लेकिन यह नहीं स्वीकार करना चाहते थे कि लालबिहारी ने कोई अनुचित काम किया है। इसी बीच में गाँव के और कई सज्जन हुक्के-चिलम के बहाने से वहाँ आ बैठे। कई स्त्रियों ने जब यह सुना कि श्रीकण्ठ पत्नी के पीछे पिता से लड़ने पर तैयार है तो उन्हे बड़ा हर्ष हुआ। दोनो पक्षों की मधुर वाणियाँ सुनने के लिए उनकी आत्मायें तलमलाने लगीं। गाँव में कुछ ऐसे कुटिल मनुष्य भी थे, जो इस कुल की नीतिपूर्ण गति पर मन ही मन जलते थे। वे कहा करते थे, श्रीकण्ठ अपने बाप से दबता है इसलिए वह दुब्बू है। उसने विद्या पढ़ी इसलिए वह किताबों का कीड़ा है। बेनी-

माधवसिंह उसकी सलाह के बिना कोई काम नहीं करते, यह उनको मूर्खता है। इन महानुभावों की शुभ कामनायें आज पूरी होती दिखाई दीं। कोई हुक्का पीने के बहाने और कई लगान की रसीद दिखाने, आ-आ कर बैठ गये। बेनीमाधवसिंह पुराने आदमी थे, इन भावों को ताड़ गये। उन्होंने निश्चय किया कि कुछ ही क्यो न हो, इन द्रोहियों को ताली बजाने का अवसर न दूँगा। तुरन्त कोमल शब्दों में बोले—बेटा, मैं तुमसे बाहर नहीं हूँ। तुम्हारा जो जी चाहे करो, अब तो लड़के से अपराध हो गया।

इलाहाबाद का अनुभवरहित झल्लाया हुआ ग्रेजुएट इस बात को न समझ सका। उसे डिबेटिंग क्लब मे अपनी बात पर अड़ने की आदत थी, इन हथकण्डों को उसे क्या खबर! बाप ने जिस मतलब से बात पलटी थी वह उसकी समझ में न आया। बोला—मैं लालबिहारी के साथ अब इस घर मे नहीं रह सकता।

बेनीमाधव—बेटा, बुद्धिमान लोग मूर्खों की बात पर ध्यान नहीं देते। वह बेसमझ लड़का है; उससे जो कुछ भूल हुई है, उसे तुम बड़े होकर क्षमा कर दो।

श्रीकण्ठ—उसकी इस दुष्टता को मैं कदापि नहीं सह सकता। या तो वही घर मे रहेगा या मैं ही। आपको यदि वह अधिक प्यारा है तो मुझे विदा कीजिये। मैं अपना भार आप सँभाल लूँगा। यदि मुझे रखना चाहते हैं, तो उससे कहिये, जहाँ चाहे चला जाय। बस, यही मेरा अन्तिम निश्चय है।

लालबिहारीसिंह दरवाजे की चौखट पर चुपचाप खड़ा बड़े

भाई की बात सुन रहा था। वह उनका बहुत आदर करता था। उसे कभी इतना साहस नहीं हुआ था कि श्रीकण्ठ के सामने चारपाई पर बैठ जाय, हुक्का पी ले या पान खा ले। बाप का भी इतना मान न करता था। श्रीकण्ठ का भी उस पर हार्दिक स्नेह था। अपने होश में उन्होंने कभी उसे घुड़का तक न था। जब जब इलाहाबाद से आते, तो उसके लिए कोई-न कोई वस्तु अवश्य लाते। मुगदर की जोड़ी उन्होंने बनवा दी थी। पिछले साल जब उसने अपने से ड्योढ़े जवान को नागपञ्चमी के दिन दङ्गल में पछाड़ दिया तो उन्होंने पुलकित होकर अखाड़े में ही जाकर उसे गले लगा लिया था। पाँच रुपये के पैसे लुटाये थे। ऐसे भाई के मुँह से आज ऐसी हृदयविदारक बात सुन कर लालबिहारी को बड़ी ग्लानि हुई। वह फूट-फूट कर रोने लगा। इसमे सन्देह नहीं कि वह अपने किये पर आप पछता रहा था। भाई के आने से एक दिन पहले से ही उसकी छाती धड़कती थी कि देखूँ भैया क्या कहते हैं? मैं उन के सम्मुख कैसे जाऊँगा, उन से कैसे बोलूँगा, मेरी आखें उनके सामने कैसे उठेंगी। उसने समझा था कि भैया मुझे बुला कर समझा देंगे। इस आशा के विपरीत आज उसने उन्हें निर्दयता की मूर्त्ति बने हुए पाया। वह मूर्ख था, परन्तु उसका मन कहता था कि भैया मेरे साथ अन्याय कर रहे है। यदि श्रीकण्ठ उसे अकेले में बुला कर दो-चार कड़ी बातें कह देते, इतना ही नही दो-चार तमाचे भी लगा देते, तो कदाचित् उसे इतना दुःख न होता। पर, भाई का यह कहना कि अब मैं इसकी सूरत नही देखना चाहता. लाल-

बिहारी से न सहा गया। वह रोता हुआ घर में आया। कोठरी में जाकर कपड़े पहने, आँखें पोंछी, जिसमें कोई यह न समझ सके कि रोता था। तब आनन्दी के द्वार पर आकर बोला—भाभी! भैया ने निश्चय किया है कि वह मेरे साथ इस घर में न रहेंगे। वह अब मेरा मुँह नहीं देखना चाहते। इसलिए मैं अब जाता हूँ, उन्हें फिर मुँह न दिखाऊँगा। मुझ से जो कुछ अपराध हुआ उसे क्षमा करना।

यह कहते-कहते लालबिहारी का गला भर आया।

४

जिस समय लालबिहारीसिंह सिर झुकाये आनन्दी के द्वार पर खड़ा था, उसी समय श्रीकण्ठसिंह भी आँखें लाल किये बाहर से आये। भाई को खड़ा देखा तो घृणा से आँखें फेर लीं और कतरा कर निकल गये, मानो उसकी परछाहीं से भी दूर भागते हैं।

आनन्दी ने लालबिहारी की शिकायत की थी लेकिन अब मन में पछता रही थी। वह स्वभाव से ही दयावती थी। उसे इसका तनिक भी ध्यान न था कि बात इतनी बढ़ जायगी। वह मन में अपने पति पर झुँझला रही थी कि यह इतने गरम क्यों हो जाते हैं। उस पर यह भय भी लगा हुआ था कि कहीं मुझ से इलाहाबाद चलने को कहें तो कैसे क्या करूँगी। इसी बीच में जब उसने लालबिहारी को दरवाजे पर खड़े यह कहते सुना कि अब मैं जाता हूँ मुझसे जो अपराध हुआ है उसे क्षमा करना तो उसका रहा-सहा क्रोध भी पानी हो गया। वह रोने

लगी। मन की मैल धोने के लिए नयन-जल से उपयुक्त और कोई वस्तु नहीं है।

श्रीकण्ठ को देख कर आनन्दी ने कहा—लाला बाहर खड़े बहुत रो रहे हैं।

श्रीकण्ठ—तो मैं क्या करूँ?

आनन्द—भीतर बुला लो। मेरी जीभ में आग लगे, मैंने कहाँ से यह झगड़ा उठाया।

श्रीकण्ठ—मैं न बुलाऊँगा।

आनन्दी—पछताओगे। उन्हें बहुत ग्लानि हो गई है। ऐसा न हो कहीं चल दें।

श्रीकंठ न उठे। इतने में लालबिहारी ने फिर कहा, भाभी! भैया से मेरा प्रणाम कह दो। वह मेरा मुँह नहीं देखना चाहते, इसलिए मैं भी अपना मुँह उन्हें न दिखाऊँगा।

लालबिहारी इतना कह लौट पड़ा, और शीघ्रता से दरवाजे की ओर बढ़ा। अन्त में आनन्दी कमरे से निकली और उसका हाथ पकड़ लिया। लालबिहारी ने पीछे फिरकर देखा और आँखों में आँसू भरे बोला—मुझे जाने दो।

आनन्दी—कहाँ जाते हो?

लालबिहारी—जहाँ कोई मेरा मुँह न देखे।

आनन्दी—मैं न जाने दूँगी।

लालबिहारी—मैं तुम लोगों के साथ रहने योग्य नहीं हूँ।

आनन्दी—तुम्हें मेरी सौगन्ध, अब एक पग भी आगे न बढ़ाना।

लालबिहारी—जब तक मुझे यह न मालूम हो जाय कि भैया का मन मेरी तरफ से साफ हो गया, तब तक मैं इस घर में कदापि न रहूँगा।

आनन्दी—मैं ईश्वर को साक्षी देकर कहती हूँ कि तुम्हारी ओर से मेरे मन में तनिक भी मैल नहीं है।

अब श्रीकंठ का हृदय भी पिघला। उन्होंने बाहर आकर लालबिहारी को गले लगा लिया। दोनों भाई खूब फूट-फूट कर रोये। लालबिहारी ने सिसकते हुए कहा—भैया! अब कभी मत कहना कि तुम्हारा मुँह न देखूँगा। इसके सिवा आप जो दंड देंगे वह मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा।

श्रीकंठ ने काँपते हुए स्वर से कहा—लल्लू! इन बातों को बिलकुल भूल जाओ, ईश्वर चाहेगा तो अब फिर ऐसा अवसर न आवेगा!

बेनीमाधवसिंह बाहर से आ रहे थे। दोनों भाइयों को गले मिलते देखकर आनन्द से पुलकित हो गये। बोल उठे—बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं। बिगड़ता हुआ काम बना लेती हैं।

गाँव में जिसने यह वृत्तान्त सुना उसी ने इन शब्दों में आनन्दी की उदारता को सराहा—"बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती है।"

उसने कहा था

(श्री चन्द्रधर गुलेरी)

बड़े-बड़े शहरों में इक्के-गाड़ी वालों की जबान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गये हैं उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकार्ट वालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्के वाले कभी घोड़ों की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अंगु-लियों के पोरों को चींथ कर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले तंग, चक्करदार गलियों में, हर एक लड्ढी वाले के लिए ठहर कर सब्र का समुद्र उमड़ाकर 'बचो खालसा जी', 'हटो भाई जी,' 'ठहरना माई', 'आने दो लालाजी,' 'हटो बाछा', कहते हुए, सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्ने, खोमचे और भारे वालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने

पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा, जीणजोगिए; हट जा, करमांवालिए; हट जा, पुत्तांप्यारिए, बच जा, लम्मीवालिए। समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है तू भाग्यवाली है, पुत्रों को प्यारी है, लंबी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहिए के नीचे आना चाहती है? बच जा।

ऐसे बंबूकार्ट वालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक एक दुकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बड़ियाँ। दुकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

'तेरे घर कहाँ है?'

'मगरे मे;—और तेरे?'

'माझे में;—यहाँ कहाँ रहती है?'

'अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते है।'

'मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरुबाजार में है।'

इतने में दुकानदार निबटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनो साथ साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुसकरा कर पूछा—'तेरी कुड़माई हो गई?' इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ा कर 'धत्' कह कर दौड़ गई और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्जी वाले के यहाँ, या दूध वाले के यहाँ,

अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा—तेरी कुड़माई हो गई है?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसी ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तो लड़की, लड़के की सम्भावना के विरुद्ध, बोली—'हाँ, हो गई।'

'कब?'

'कल—देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू।' लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छाबड़ी वाले की दिन भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभी वाले के ठेले में दूध उँडेल दिया। सामने नहा कर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

२

'राम-राम, यह भी कोई लड़ाई है! दिन-रात खंदकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाने से दस गुना जाड़ा और मेंह और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। गनीम कहीं दिखता नहीं—घंटे दो घंटे में कान के परदे फाड़ने वाले धमाके के साथ सारी खंदक हिल जाती है और सौ गज धरती उछल पड़ती है। इस गैबी गोली से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का जलजला सुना था, यहाँ दिन में पचीस जलजले होते हैं। जो कहीं खन्दक से बाहर साफा या कुहनी निकल गई तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।'

'लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खंदक में बिता ही दिये। परसों 'रिलीफ' आ जायगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका करेंगे और पेट भर खाकर सो रहेंगे। उसी फिरंगी मेम के बाग में—मखमल का-सा हरा घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती हैं। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो।'

'चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जर्मनों को अकेला मारकर न लौटूँ तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते है। यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो···'

'नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों?' सूबेदार हजारा-सिंह ने मुसकरा कर कहा, 'लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गये तो क्या होगा?'

'सूबेदार जी, सच है' लहनासिंह बोला—'पर करें क्या? हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं और खाई में दोनों तरफ से चंबे की बावलियों के-से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय तो गरमी आ जाय।'

'उदमी, उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वजीरा, तुम चार जने बाल्टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम हो गई है, खाई के दरवाज़े का पहरा बदल दे।' यह कहते हुए सूबेदार सारी खंदक में चक्कर लगाने लगे।

वज़ीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भरकर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—'मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण!' इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भर कर उसके हाथ में देकर कहा—'अपनी बाड़ी के खरबूजों मे पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब भर मे नहीं मिलेगा।'

'हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमाँ जमीन यहाँ माँग लूँगा और फलों के बूटे लगाऊँगा।'

'लाड़ी होराँ को भी यहाँ बुला लोगे? या वही दूध पिलाने वाली फिरंगी मेम...।'

'चुप कर। यहाँवालों को शरम नहीं।'

'देश-देश की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तमाखू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुल्क के लिए लड़ेगा नहीं।'

'अच्छा, अब बोधासिंह कैसा है?'

'अच्छा है।'

'जैसे मैं जानता ही न होऊँ। रात भर तुम अपने दोनों कंबल उसे ओढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते हो। उसके पहर पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है मौत है, और निमोनिया से मरने वालों को मुरब्बे नहीं मिला करते।'

'मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।'

वजीरासिंह ने त्योरी चढ़ाकर कहा—'क्या मरने मारने की बात लगाई है? मरें जर्मनी और तुरुक।'

इतने में एक कोने से पंजाबी गीत की आवाज सुनाई दी। सारी खंदक गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताजे हो गये; मानो चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

(३)

दो पहर रात गई है। अँधेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधासिंह खाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कंबल बिछाकर और लहनासिंह के दो कंबल और एक बरानकोट ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुख पर है और एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर। बोधासिंह कराहता है।

'क्यों बोधा भाई, क्या है ?'

'पानी पिला दो।'

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—'कहो कैसे हो ?' पानी पीकर बोधा बोला—'कँपनी छूट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे है। दाँत बज रहे है।'

'अच्छा, मेरी जरसी पहन लो ?'

'और तुम ?'

'मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गरमी लगती है, पसीना आ रहा है।'

'ना, मै नहीं पहनता, चार दिन से तुम मेरे लिए...'

'हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सबेरे ही आई है। विलायत से मेमे बुनकर भेज रही हैं। गुरु उनका भला करे।' यों कह कर लहना अपना कोट उतार कर जरसी उतारने लगा।

'सच कहते हो ?

'और नही झूठ ?' यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और जीन का कुरता भर पहन कर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घंटा बीता। इतने मे खाई के मुँह से आवाज आई—'सूबेदार हजारासिंह !'

'कौन, लपटन साहब ? हुकुम हुजूर' कहकर सूबेदार तनकर फ़ौजी सलाम करके सामने हुआ।

'देखो, इसी समय धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज़ियादह जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पंद्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सब को साथ ले उनसे जा मिलो। खंदक छीनकर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।'

'जो हुक्म।'

चुपचाप सब तैयार हो गये। बोधा भी कंबल उतार कर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझ कर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेरकर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकाल कर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—

'लो, तुम भी पियो।'

आँख मारते मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपाकर बोला—'लाओ, साहब!' हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा, बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियों वाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गये और उनकी जगह कैदियों से कटे हुए

बाल कहाँ से आ गये ?

शायद साहब शराब पिये हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है ! लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमेंट में थे।

'क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जायँगे ?'

'लड़ाई खत्म होने पर। क्यों क्या यह देश पसंद नहीं ?'

"नहीं साहब, शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ ? याद है, पार साल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी के जिले में शिकार करने गये थे—हाँ, हाँ'—वही जब आप खोते पर सवार थे और आपका खानसामा अब्दुल्ला रास्ते में एक मंदिर में जल चढ़ाने को रह गया था ? 'बेशक, पाजी कहीं का'—सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कंधे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफ़सर के साथ शिकार खेलने में मज़ा है। क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न ? आपने कहा था कि रेजिमेंट के मेस में लगायेंगे। 'हो, पर मैंने वह विलायत भेज दिया'—ऐसे बड़े-बड़े सींग दो-दो फुट के तो होंगे ?"

'हाँ, लहनासिंह, दो फुट चार इंच के थे। तुम ने सिगरेट नहीं पिया ?'

'पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ',—कह कर लहना-सिंह खंदक में घुसा। अब उसे संदेह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।

अँधेरे में किसी सोनेवाले से वह टकराया।

'कौन ? वजीरासिंह ?'

'हाँ, क्यों लहना ? क्या, क़यामत आ गई ? ज़रा तो आँख लगने दी होती ?'

'होश में आओ। क़यामत आई और लपटन साहब की वर्दी पहन कर आई है।

'क्यों ?'

'लपटन साहब या तो मारे गये या कैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहन कर यह कोई जर्मन आया है। सूबदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा और बातें की है। सौहरा साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है ?'

'तो अब ?'

'अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार होरॉं कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पलटन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी दूर न गये होंगे सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। खदक की बात झूठ है। चले जाओ, खदक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।'

'हुकुम तो यह है कि यहीं...'

'ऐसी तैसी हुकुम की! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह,

जो इस वक्त यहाँ सबसे बड़ा अफसर है, उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।'

'पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।'

'आठ नहीं दस लाख। एक एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है।

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर के तीन गोले निकाले। तीनों को जगह-जगह खंदक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ जाकर दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उलटी बंदूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तानकर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुन्दा साहब की गरदन पर मारा और साहब 'ऑख! मीन गौट्ट*!' कहते हुए चित हो गये। लहनासिंह ने तीनों गोले बीन कर खंदक के बाहर फेंके और साहब को घसीट कर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन चार लिफाफे और एक डायरी निकाल कर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—'क्यों लपटन साहब? मिजाज कैसा है? आज मैंने बहुत बातें सीखीं।

*हाय, मेरे राम! (जर्मन)

यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी जिले में नीलगायें होती हैं और उनके दो फुट चार इञ्च के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ उर्दू कहाँ से सीख आये ? हमारे लपटन साहब तो बिना 'डेम' के पाँच लफ्ज भी नहीं बोला करते थे।"

लहना ने पतलून की जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने, मानो जाड़े से बचने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिह कहता गया—'चालाक तो बड़े हो, पर माझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आँखे चाहिए। तीन महीने हुए एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव मे आया था। औरतों को बच्चे होने की तावीज बाँटता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था जर्मनी वाले बड़े पडित हैं। वेद पढ़कर उनमें से विमान चलाने की विद्या जान गये है। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान मे आयेंगे तो गोहत्या बंद कर देंगे। मंडी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपये निकाल लो, सरकार का राज्य जाने वाला है। डाकबाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूँड दी थी और गाँव से बाहर निकाल कर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रखा तो...'

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने

साहब की कपालक्रिया कर दी। धड़ाका सुन कर सब दौड़ आये। बोधा चिल्लाया—'क्या है?"

लहनासिंह ने उसे तो यह कर सुला दिया कि 'एक हड़का कुत्ता आया था, मार दिया'; और औरों से सब हाल कह दिया। सब बंदूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफा फाड़ कर घाव के दोनो तरफ पट्टियाँ कस कर बाँधीं। घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बद हो गया।

इतने मे सत्तर जर्मन चिल्ला कर खाई में घुस पड़े। सिक्खो की बंदूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तक कर मार रहा था—वह खड़ा था, और लेटे थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयो के शरीर पर चढ़ कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनटो मे वे—

अचानक आवाज आई—"वाह गुरुजी दी फतह! वाह गुरु जी दा खालसा!" और धड़ाधड़ बदूकों के फायर जर्मनो की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटो के बीच में आ गये। पीछे सूबेदार हजारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिह के साथियो के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों ने भी सगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और—"अकाल सिक्खाँ दी फौज आई! वाह गुरु जी दी फतह! वाह गुरुजी दा खालसा!! सत श्री अकाल पुरुष!!!" और लड़ाई खतम हो गई। तिरसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों मे पंद्रह के प्राण गये। सूबेदार

के दाहिने कंधे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी, उसने घाव को खंदक की गीली मिट्टी से पूर लिया और बाकी का साफा कस कर कमरबंद की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना को दूसरा घाव—भारी घाव—लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था, ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा मे 'दन्तवीणोपदेशाचार्य्य' कहलाती। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मै दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और कागजात पाकर उसकी तुरत बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दाहिनी ओर की खाईवालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं जो कोई डेढ़ घंटे के अंदर-अंदर आ पहुँचीं। फील्ड अस्पताल नजदीक था। सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जायँगे, इसलिए मामूली पट्टी बाँध कर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रक्खी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ मे पट्टी बँधवानी चाही। पर उसने यह कह कर टाल दिया कि थोड़ा घाव है सवेरे देखा जायगा। बोधासिंह ज्वर मे बर्रा रहा था। वह गाड़ी

में लिटाया गया। लहना को छोड़ कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा—

'तुम्हे बोधा की कसम है और सूबेदारनी जी की सौगंध है जो इस गाड़ी मे न चले जाओ।'

"और तुम ?"

"मेरे लिए वहाँ पहुँच कर गाड़ी भेज देना और जर्मन मुर्दों के लिए भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ ? वज़ीरासिंह मेरे पास है ही।"

"अच्छा, पर—"

"बोधा गाड़ी पर लेट गया ? भला। आप भी जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना। और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझ से जो उसने कहा था वह मैंने कर दिया।"

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़ कर कहा 'तैने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा ? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था ?'

"अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा वह लिख देना और कह भी देना।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया। 'वजीरा, पानी पिला दे और मेरा कमरबंद खोल दे। तर हो रहा है।'

५

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है।

जन्म भर की घटनाएँ एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यो के रंग साफ होते हैं, समय की धुन्ध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

× × × ×

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दही वाले के यहाँ, सब्जी वाले के यहाँ, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। वह जब पूछता है तेरी कुड़माई हो गई, तब 'धत्' कह कर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा तो उसने कहा, 'हाँ, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलों वाला सालू?" सुनते ही लहनासिंह को दुख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ?

"वजीरासिंह पानी पिला दे।"

× × × ×

पचीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं० ७७ राइफल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी, या नही। सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकदमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। यहाँ रेजिमेंट के अफसर की चिट्टी मिली कि फौज लाम पर जाती है, फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हजारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार बेढ़े मे से निकल कर आया। बोला—'लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं। बुलाती हैं, जा मिल आ।" लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं? कब से? रेजिमेंट के कार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाज़े पर जाकर "मत्था टेकना" कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

'मुझे पहचाना?'

'नहीं।'

"तेरी कुड़माई हो गई?—धत्—कल हो गई—देखते नहीं रेशमी बूटो वाला सालू—अमृतसर में—"

भावो की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव वह निकला।

'वजीरा, पानी पिला—उसने कहा था।'

\+ + + +

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है—"मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमकहलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों की एक घघरिया पलटन क्यो न बना दी, जो मैं भी सूबेदार जी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फौज मे भर्ती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।" सूबेदारनी रोने लगी। "अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगे

वाले का घोड़ा दही वाले की दुकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़ों की लातों में चले गये थे और मुझे उठा कर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था; ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसराती हूँ।"

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

'वजीरासिंह, पानी पिला,—उसने कहा था।

\+ \+ \+

लहना का सिर अपनी गोद में रक्खे वजीरासिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आध घंटे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—

'कौन ? कीरतसिंह ?'

वजीरा ने कुछ समझकर कहा—'हाँ'।

'भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट पर मेरा सिर रख ले।' वजीरा ने वैसा ही किया।

'हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस, अब के हाड़ में यह आम खूब फलेगा। चाचा-भतीजे दोनों वहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है, उतना ही यह आम है। जिस महीने में उसका जन्म हुआ था, उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।'

वजीरासिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे।

\+ \+ \+

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—फ्रांस और बेलजियम—६८वीं सूची—मैदान में घावों से मरा. नं० ७७ सिख राइफल्स, जमादार लहनासिंह ।

अनाथ-बालिका

(पं० ज्वालादत्त शर्मा)

१

पण्डित राजनाथ एम० डी० का व्यवसाय साधारण नहीं है। शहर के छोटे-बड़े—अमीर-गरीब सभी उनको अपनी बीमारी में बुलाते हैं। इसके कई कारण हैं। एक तो आप साधु पुरुष हैं; दूसरे बड़े स्पष्टवक्ता; तीसरे सदाचार की मूर्ति हैं। चालीस साल की अवस्था हो जाने पर भी आपने अपना विवाह नहीं किया। ईश्वर की कृपा से आप के पास रुपये और मान की कमी नहीं। अतुल धन और अमित सम्मान के अधिकारी होने पर भी आप बड़े जितेन्द्रिय, निरभिमान और सदाचारी हैं। गोरखपुर में आप को डाक्टरी शुरू किये सिर्फ सात ही वर्ष हुए हैं, पर शहर के छोटे-बड़े सब की जबान पर राजा-बाबू का नाम इस तरह चढ़ गया है, मानो वे जन्म से ही वहाँ के निवासी हैं। आपका कद ऊँचा, शरीर छरहरा और चेहरा कान्ति-पूर्ण गोरा है। मरीज से बातचीत करते ही उसकी तकलीफ आप कम कर देते हैं। इस कारण साधारण लोग आपको जादूगर तक समझते हैं। आपके परिवार में सिर्फ वृद्धा माता हैं। एक भानजे का भरण-पोषण भी आप ही करते हैं। भानजा सतीश कालेज में पढ़ता है।

डाक्टर राजा-बाबू ने अनेक मरीजों से फारिग हो कर आज का दैनिक उठाया ही था कि उनके सामने एक ११-१२ वर्ष की निरीह बालिका, आँखों में आँसू भरे हुए आ खड़ी हुई। डाक्टर साहब समझ गये कि इस बालिका पर कोई भारी विपत्ति आई है। उन्होने दैनिक को मेज़ पर रखकर बड़े स्नेह के साथ उससे पूछा—

"बेटी, क्यों रोती हो ?"

"डाक्टर साहब कहाँ हैं, उनके पास आई हूँ। मेरी माँ का बुरा हाल है।"

"मैं ही डाक्टर हूँ। तुम्हारी माँ को क्या शिकायत है ?"

"डाक्टर साहब, मेरी माँ को बड़े जोर का बुखार चढ़ा है। तीन दिन से वह बेहोश थी। आज कुछ होश हुआ है, तो आपको बुलाने के लिए भेजा है। हमारा घर बहुत दूर नहीं है। आप चलकर देख लीजिए।"

"मैं अभी चलता हूँ। तुम घबराओ मत। ईश्वर तुम्हारी माँ को नीरोग कर देगा।"

डाक्टर साहब अपना हैंड-बैग उठाकर लड़की के साथ पैदल ही चल दिये। लड़की के मना करने पर भी उन्होंने नहीं माना और कहा—"तुम्हारा मकान बहुत करीब है। मैं भी प्रातःकाल से गाड़ी में बैठे-बैठे थक सा गया हूँ; इसलिए थोड़ी देर पैदल चलने को तबीयत चाहती है।"

नथाकरएहु खसाहब चदार गलियों से निकलते हुए एक बहु

छमेन हखते कअव

डाक्टर साहब ने समझ लिया कि इसमें रहने वालों पर चिर-काल से लक्ष्मीजी का कोप मालूम होता है। उन्होंने मकान के भीतर जाकर देखा कि एक छप्पर के नीचे चारपाई पर लड़की की माँ लिहाफ ओढ़े लेटी हुई है। आँगन में नीम का एक पेड़ है। उसके पत्तों से आँगन भर रहा है। मालूम होता है कि कई दिनों से घर में झाड़ू तक नहीं लगाई गई। लड़की ने अपनी माँ की चारपाई के पास पहले से ही एक मूढ़ा बिछा रखा था; क्योंकि उसने अपनी माँ से सुना था कि कोई गरीब आदमी डाक्टर साहब के घर से निराश नहीं लौटाया जाता। डाक्टर साहब मूढ़े पर बैठ गये। लड़की ने माँ के कान में जोर से आवाज दी कि डाक्टर साहब आ गये। माँ ने मुँह पर से लिहाफ उठाया। यद्यपि बीमारी की तकलीफ के कारण उसके चेहरे पर उदासी छाई थी, तथापि उस उदासी के अन्दर से भी डाक्टर साहब ने उसके हृदय की पवित्रता और मानसिक दृढ़ता की निर्मल किरणों को छनते हुए देखा। उन्होंने यह भी जान लिया कि भगवान् अदृष्ट के कोप से यद्यपि यह रोगिणी इस छोटे से मकान में टूटे-फूटे सामान के साथ रहने को विवश कर दी गई है; किन्तु एक दिन यह जरूर अच्छे घर और बड़े सामान के साथ किसी सुयोग्य पति के हृदय की अधिकारिणी रही होगी। रोगिणी की अवस्था ४० वर्ष के ऊपर थी। रोग और गरीबी ने मिल कर उसके मुख-कमल को मलिन करने में कोई कसर न छोड़ी थी; परन्तु उसके चेहरे पर जिस स्वर्गीय शान्ति का आधिपत्य था, उसे विपत्ति नहीं हटा सकी

थी। रोगिणी के शान्ति-पूर्ण चेहरे को देखने ह्र डाक्टर के हृदय में उसके विषय में बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हो गई। उन्होंने अपने स्वभाव-सिद्ध मीठे स्वर में पूछा—

"माँ जी. आपको क्या तकलीफ है? धीरे-धीरे अपनी तबीयत का हाल कह सुनाइये।"

रोगिणी ने कराहते हुए कहा—

"राजा-बाबू. तुम दीनबन्धु हो; इसलिए ईश्वर-वत् पूज्य हो। मैं आपसे लज्जा छोड़कर कुछ कहना चाहती हूँ। आशा है, इसके लिए तुम मुझको क्षमा करोगे। संसार में मैंने किसी का एहसान नही उठाया; पर मरते समय तुम्हारे एहसान के नीचे मुझे दबना पड़ा। इसलिए ईश्वर तुम्हारा........' यह कहते-कहते रोगिणी के नेत्रों में आँसू भर आये।

राजा-बाबू ने बड़ी नम्रता से कहा—

"माँ जी आप तबीयत को भारी न कीजिए। मैं आपकी सेवा के लिये तैयार हूँ। आप निस्संकोच आज्ञा कीजिये, पर पहले रोग का हाल तो कहिए।"

'डाक्टर साहब. रोग का हाल कुछ नहीं। समय पूरा हो गया है। अब मैं आप से जो कुछ कहना चाहती हूँ. उसे सुन लीजिए। सरला—जो आपके पीछे खड़ी हुई है—मेरी एकमात्र कन्या है यह अब अनाथ होती है। इसको मैं आपके सिपुर्द करती हूँ। इसका विवाह मैं न कर सकी; इसलिए मुझे आप से इतनी बड़ी भिक्षा माँगनी पड़ी। यह घर के काम-काज मे होशियार है। जो कुछ मैं जानती थी और बता सकती थी,

उसकी शिक्षा मैंने इसको दे दी है। यह आपकी सेवा करेगी। मुझे पूर्ण आशा है कि यह आपको प्रसन्न रक्खेगी। समय आने पर आप इसका किसी पढ़े-लिखे ब्राह्मण-वर के साथ विवाह कर दें। बस मेरी यही प्रार्थना है। और हाँ, यह एक पेकेट है, जिसमें दो लिफाफे हैं। इनको आप मेरी मृत्यु के एक वर्ष बाद जब चाहें पढ़ें। उनमें मेरा परिचय है—जिसको बताने की और आपको जानने की इस समय जरूरत नहीं। दूसरों का उपकार करने वाले सदा सङ्कट में ही रहते हैं। आप भी परोपकार-रत हैं; इसलिए आपको भी बेवास्ते इन संकटों में पड़ना पड़ा।"

इस प्रकार कहते-कहते उसका गला भर आया।

राजा-बाबू ने उत्तर दिया—

"माँ जी, मैं आपकी आज्ञा को सहर्ष स्वीकार करता हूँ। मैं आपकी कन्या को सन्तान-वत् रक्खूँगा। मेरे घर में कोई बालक नहीं। माताजी सरला को पाकर यथार्थ में बहुत प्रसन्न होंगी। समय आने पर मैं इसका विवाह भी कर दूँगा; पर आप इतना निराश क्यों होती हैं। मुझे आशा है, आप अच्छी हो जायँगी।"

इसके बाद डाक्टर साहब ने रोगिणी की नब्ज आदि देखी। देखने से डाक्टर साहब को मालूम हो गया कि रोगिणी का रोग विषयक बयान बहुत कुछ ठीक है।

उसी दिन शाम को रोगिणी इस संसार से चल बसी।

२

विस्मृति भी बड़े काम की चीज है। यह न होती, तो, मनुष्य

का जीवन बहुत बुरा हो जाता। जन्म से लेकर आज तक हमको जिन जिन दुःखों, क्लेशों और सङ्कटों का सामना करना पड़ा है; वे सब-के-सब यदि हर समय हमारी आँखों के सामने खड़े रहते, तो हमारा जीवन भयानक हो जाता। अकेली विस्मृति ही उनसे हमारी रक्षा करती है।

सरला ने मातृ-वियोग को सह लिया। माता की याद धीरे-धीरे विस्मृति के गर्भ में छिपने लगी। अब उसकी जीवन-पुस्तक का एक नया, पर चमचमाता हुआ, पृष्ठ खुला। छोट-से-झोंपड़े से निकल कर अब उसने महल को मात करने वाले डाक्टर राजा-बाबू के मकान में प्रवेश किया। माता की छत्रच्छाया उठ गई, डाक्टर की वृद्धा माता की गोद का आश्रय मिला; पर उसमें भी उसने वही स्नेह-रस-परिप्लुत अभय-दान पाया।

सरला ने पहले तो कुछ सङ्कोच अनुभव किया; पर अन्नपूर्णा की ममता-पूर्ण और डाक्टर साहब की स्नेह-भरी बातों ने उसको बता दिया कि वह मानो अपने ही घर में है। डाक्टर साहब ने सरला की शिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध कर दिया।

सरला भी डाक्टर साहब की यथा-शक्य सेवा करने लगी पर नौकरों की तरह नहीं, घर के बच्चे की तरह। वह डाक्टर साहब को अपने हाथ से भोजन कराती। अन्नपूर्णाजी यद्यपि अपने देवोपम पुत्र के लिए स्वयं ही भोजन तैयार करतीं; पर सरला फिर भी उनको कुछ कम सहायता न देती। सरला को धीरे-धीरे पाक-शास्त्र की शिक्षा मिलने लगी। वृद्धा अन्नपूर्णा के निरीक्षण में निराभिषभोजी डाक्टर साहब के लिए विविध

प्रकार के शाक, खीर, हलुआ आदि अनेक सु-स्वादु पौष्टिक पदार्थ वह बनाने लगी। प्रातःकाल होते ही अन्नपूर्णा की पूजा का सामान भी वह ठीक कर देती। घर के बगीचे से फूल लाकर सजा देती और चन्दन आदि सामग्री यथास्थान रख देती। अपनी सेवा और सुस्वभाव से—मतलब यह कि—सरला ने डाक्टर साहब और उनकी वृद्धा माता के हृदय में सन्तान से बढ़कर स्नेह पैदा कर लिया।

बड़े दिन की छुट्टियों में सतीश घर आया। उसने देखा कि घर में एक देवी-स्वरूपिणी कन्या रहती है। उसके आलोक से उसने मानो सारा मकान आलोकित पाया। मामा से पूछने पर उसको मालूम हुआ कि वह भी उनकी एक आत्मीया है और कुछ दिनों तक उनके यहाँ रहने के लिए चली आई है। दो-चार दिन तक सतीश को उसके साथ बात-चीत करने में संकोच सा मालूम हुआ। उधर सलज्जा सरला भी एक नये आदमी के साथ बात-चीत करने में झिझकती रही; पर कुछ दिनों में दोनों की तबीयतें खुल गईं। फिर तो वे आपस में खूब आलाप करने लगे। सतीश ने सरला से कभी उसका परिचय न पूछा; क्योंकि वह मामाजी की बात को वेद-भगवान् की बात समझता था। न सरला ने ही अपना प्रकृत परिचय देने की आवश्यकता समझी। इसमें सन्देह नहीं कि सरला की योग्यता, गृहकार्य-कुशलता और उसके पवित्रता-पूर्ण आचरण पर सतीश मन्त्र से मुग्ध हो गया। सरला भी सतीश के कामों का बड़ा ध्यान रखती। सतीश प्रायः देखता कि उसके कपड़े तह किये हुए

यथा स्थान रक्खे हैं, वह अपने पढ़ने की पुस्तकें भी—जिनको वह इधर-उधर बिखरी और खुली हुई छोड़ जाता था—बन्द की हुई और चुनी हुई पाता। छुट्टियों के अत्यल्प काल में ही सरला ने उसके हृदय में स्थान कर लिया। उसको न-मालूम क्यों हर समय सरला का ध्यान रहने लगा। वह अपने मन से भी इसका कारण कई दफ़े पूछकर कुछ भी उत्तर न पा सका था। परन्तु वह जाने या न जाने—और जानने की जरूरत भी नहीं—प्रेमदेव की पवित्र किरणों से उसका हृदयाकाश अवश्य ही आलोकित रहने लगा। वह कभी सरला को पढ़ाता—बीसियों नई-नई बातें बताता—और कभी घंटों खाली इधर-उधर की बातें ही करता। मतलब यह कि इन दोनो की मैत्री दिन-पर-दिन मजबूत होने लगी। छुट्टियाँ समाप्त होने पर जब सतीश कालेज जाने लगा तब उसे मकान छोड़ने में बड़ा मीठा दर्द-रूप मोह मालूम हुआ; पर वह तत्काल सँभल गया और हमेशा की तरह मामाजी और वृद्धा के चरण छूकर सरला से आँखों-ही-आँखों उसने बिदा ली।

३

सतीश सेंट्रल हिन्दू कालेज में पढ़ता है। इस वर्ष वह एम० ए० की अन्तिम परीक्षा देगा। सतीश बड़ा धार्मिक है। वैसे तो हर लड़के को, जो हिन्दू-कालेज के बोर्डिंग-हाउस में रहता है स्नान-ध्यान और धार्मिक कृत्य सम्पादन करने पड़ते है, किन्तु सतीश ने अपनी बाल्यावस्था के कुछ वर्ष अपने मामा डाक्टर राजा-बाबू के साथ काटे हैं,

इस लिए, नित्य प्रातःकाल उठना, सन्ध्योपासन करना और परोपकार के लिए दत्त-चित्त रहना उसका स्वभाव-सा हो गया है। सतीश छः वर्ष से इसी कालेज में पढ़ रहा है और हर वर्ष परीक्षा में बड़ी नामवरी के साथ पास हो रहा है। सतीश अपने दैवी गुणों के लिए सब लड़कों में प्रसिद्ध है। हरएक लड़का, किसी-न-किसी रूप में उसकी कृपा का पात्र बना है। अनेक कमजोर (शरीर में नहीं, पढ़ाई में) लड़कों ने उससे पढ़ा है; अनेक गरीब विद्यार्थियों की उसने आर्थिक सहायता की है। किसी लड़के के रोग-ग्रस्त होने पर सहोदरवत् उसने उसकी शुश्रूषा भी की है। इस लिए कालेज का हर एक लड़का उसको बड़ी पूज्य-दृष्टि से देखता है। सतीश के पास वाले कमरे में रामसुन्दर-नामक एक लड़का रहता है। वह दो वर्ष से इस कालेज में पढ़ता है; पर है सतीश का सहाध्यायी ही। यह लड़का घर का मालदार होते हुए भी विद्या का बड़ा प्रेमी है। इसके पिता का हाल में स्वर्गवास हो गया है और यह बहुत बड़ी सम्पत्ति का मालिक हुआ है। पर, फिर भी, इसने पढ़ना नहीं छोड़ा। सतीश के साथ इसकी बड़ी घनिष्ठता है। सतीश और राम सुन्दर की प्रकृति अनेक अंशों में एक सी है। इसी लिए इन दोनों मे खूब मित्रता है। सतीश और रामसुन्दर छुट्टी के समय प्रायः एक ही साथ रहते हैं

सतीश और रामसुन्दर एक नाव पर बैठे हुए है। नाव पुण्यतोया भागीरथी में धीरे-धीरे बह रही है। ग्रीष्म ऋतु की सन्ध्या है। बड़ा लुभावना दृश्य है। तारों का बिम्ब गंगाजल

में पड़कर अजीब बहार दिखा रहा। सच है कि इस "शाम" के सामने "शामे लखनऊ" कुछ भी चीज नहीं। नाव वाला बड़े मीठे स्वर से गीत गा रहा है। उसकी आवाज गङ्गा के तट के अट्टालिका-सम ऊँचे स्थानों से टकराकर मानो कई गुनी होकर वापिस आ रही है। ये दोनो मित्र आपस में खूब घुल-घुलकर बातें कर रहे हैं। सन्त में सतीश ने कहा—

"मित्र, तुम्हारा हृदय बहुत विशाल है। इस बात को मैं स्वीकार करता हूँ। जहाँ तक मेरी शक्ति है, मै तुम को इस पुण्य-कार्य मे सहायता दूँगा। परीक्षा के बाद कालेज बन्द होगा। उस समय तीन मास से अधिक का अवकाश मिलेगा। उसमें मैं तुम्हारे साथ रहूँगा। जहाँ तुम चलोगे, मै चलूँगा। जहाँ तक पता चलेगा, मैं तुम्हारे मनोरथ के साफल्य के लिए प्रयत्न करूँगा। इस समय इस काम को ईश्वर के ऊपर छोड़ो। परीक्षा के दिन बहुत कम रह गये हैं। इस लिए सब ओर से मन हटाकर उसी ओर लगाना चाहिए। परीक्षा से निवृत्त होकर अपनी सब शक्तियाँ उधर लगाएँगे। मै तुम्हारा साथ दूँगा।"

रामसुन्दर—'भाई सतीश, मुझे तुम्हारा भरोसा है। पूर्ण आशा है कि यदि तुम-जैसे परोपकार-व्रती और देवोपम मित्र ने प्रयत्न किया, तो मेरा यह कार्य—जिस के कारण मेरी निद्रा और मेरी भूख, दोनों नष्ट हो गई है—जरूर सिद्ध हो जायगा। मित्र, तुलसीदास जी ने ठीक ही कहा है—

'यद्यपि जग दारुण दुख नाना।
सबतें कठिन जाति-अपमाना।'"

नाव धीरे-धीरे किनारे पर आ लगी और ये दोनों नवयुवक उससे उतर कर कालेज की ओर चल दिये।

४

सरला की माता को मरे दो वर्ष बीत गये। सरला निश्चिन्तता-पूर्वक डाक्टर बाबू के यहाँ रहती है। उसको अपनी माता की याद आती है जरूर; पर डाक्टर और उनकी वृद्धा माता के सद्-व्यवहार से उसको कोई कष्ट नहीं, ऐसी कोई चीज नहीं जो उसको प्राप्त न हो। राजा-बाबू उसको अपनी ही पुत्री समझते हैं। उसने भी अपने गुणों से उनको खूब प्रसन्न कर रक्खा है।

राजा-बाबू ने दो वर्ष बाद उस लिफाफे को खोला जिसको पढ़ने की आज्ञा सरला की माता मरते समय दे गई थी। इसमें दो लिफाफे थे। जिस पर नम्बर एक पड़ा था, उसको खोलकर डाक्टर साहब पढ़ने लगे। उसमें लिखा था—

"आप मेरे परम हितैषी हैं। जो ऐसा न होता, तो यह लिफाफा आप न पढ़ते। अब तक यह कब का अग्निदेव के सिपुर्द हो चुका होता। आप मेरी कन्या के संरक्षक हैं। इस कारण मैं आप से नीचे लिखा वृत्तान्त कहती हूँ। सुनिये—

मेरे पति दो भाई थे। पति की मृत्यु के बाद मेरे जेठ ने मुझ से अच्छा व्यवहार न किया। उन्होंने एक दिन क्रोध-वश मुझे मकान से निकल जाने तक की आज्ञा दे दी। मेरे पति ने मरते समय, बिना विचार किये ही अपने भाई की आज्ञा का पालन करने का आदेश मुझे दिया था; इसलिए स्वर्ग-गत पति-देव की आज्ञा का स्मरण करके मुझे अपने जेठ की अत्यन्त

अनुचित और अकारण दी हुई आज्ञा को शिरोधार्य्य करना पड़ा। मैं अपनी एकमात्र कन्या को लेकर घर से निकल चली। ओफ! कैसी भीषण रात्रि थी। उस समय के दुःख का हाल किसी भले और सम्मान्य घर की स्त्री के मन से ही पूछना चाहिए। मेरे शरीर पर कुछ आभूषण थे। उन्हीं के सहारे मैं कई सौ मील की यात्रा करके यहाँ आई और एक साधारण-सा मकान लेकर रहने लगी। मैंने जीवन भर प्रतिष्ठा से साथ अपना और अपनी प्यारी बेटी का पेट पाला। मैंने 'आन को रक्खा जान गँवा कर'। बस मेरा यही रहस्य है। अब यदि आप मेरा पूरा परिचय प्राप्त करना चाहें, तो दूसरे लिफाफे को खोलिए। उसमें आप को मेरे जेठ का लिखा हुआ एक रजिस्टर्ड इकरारनामा मिलेगा। उसमें उन्होंने मेरे पति की सम्पत्ति को अपनी सम्पत्ति से अलग, अर्थात् विभक्त बताया है। उसमें मेरे पतिदेव का पूरा पता भी प्रसंगवश आ गया है। उसको आप साधारण कागज न समझिये। उसके द्वारा मेरी एकमात्र कन्या सरला—ईश्वर उसे सानन्द रखे—एक दिन लाख रुपये से अधिक मूल्य वाली सम्पत्ति की अधिकारिणी बन सकती है; पर मैं नहीं चाहती कि उसका प्रयोग किया जाय। मुझे पूर्ण आशा है कि मेरी सरला अपने गुणों के कारण ही बहुत बड़ी सम्पत्ति की अधिकारिणी होगी।

अन्त में, मैं आप को हृदय से आशीर्वाद देती हूँ कि ईश्वर आपका भला करें; क्योंकि आपने मेरा और मेरी कन्या का भला किया है।"

डाक्टर राजनाथ को पत्र पढ कर बड़ा आश्चर्य हुआ। वे बहुत देर तक ईश्वरीय माया और मरने वाली सती की दृढ़ प्रतिज्ञा पर विचार करते रहे। उन्होंने दूसरा लिफाफा बिना पढ़े ही अपने बक्स में बंद कर दिया।

५

जब डाक्टर राजनाथ ने सतीश के पत्र में यह पढ़ा कि वह परीक्षा देकर मकान पर न आवेगा, तब उनको बड़ी चिन्ता हुई। उसका विचार कुछ दिन इधर-उधर घूमने का है और खर्च के लिए पाँच सौ रुपये माँगे हैं। डाक्टर राजनाथ ने पाँच सौ रुपये के नोट नीचे लिखी चिट्ठी के साथ उसके पास भेज दिये—

प्रिय सतीश

मुझे बड़ा विस्मय है कि तुम किधर जा रहे हो और क्यों? माताजी तुमको देखने के लिए बड़ी व्यग्र हैं। पर मुझे भरोसा है कि तुम किसी अच्छे उद्देश्य से ही जा रहे हो। खर्च भेजता हूँ। यथासाध्य शीघ्र लौटना।

शुभानुध्यायी—

राजनाथ!"

पाँचवें-छठे दिन इसका उत्तर आ गया। उसमें लिखा था—

"पूज्य मामाजी, प्रणाम।

कृपापत्र और ५००) के नोट मिले। मेरे मित्र पंडित रामसुन्दर को आप जानते ही हैं। उनका एक बहुत ही आवश्यक

कार्य्य है, जिसमें वे मेरी सहायता चाहते हैं। उस कार्य्य के लिए इधर-उधर घूमना पड़ेगा। मैं आपको पहले पत्र में ही वह कार्य बता देता, जिसके लिए यह तैयारी है; पर उसको गुप्त रखने के लिए उन्होंने ताकीद कर दी है। अब आप यदि आज्ञा दें तो मैं उनके साथ चला जाऊँ। आप के उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

सेवक—
सतीश।"

पत्र को पढ़कर राजा-बाबू कुछ देर तक सोचते रहे। फिर उन्होंने नीचे लिखा हुआ प्रत्युत्तर अपने भानजे को भेजा—

"प्रिय सतीश,

मैं बड़ी प्रसन्नता से तुमको अपने मित्र के कार्य्य में सहायता देने को आज्ञा देता हूँ। खर्च के लिए जिस कदर रुपये की और जरूरत हो, निस्सङ्कोच मँगा लेना। यात्रा से लौटते समय अपने मित्र को भी एक दिन के लिए इधर लाना। उनको बहुत दिनों से मैंने नहीं देखा। देखने को तबीयत चाहती है। आशा है, वे मेरी प्रार्थना स्वीकार करेंगे!

शुभैषी—
राजनाथ।"

राजा-बाबू ने पत्र समाप्त ही किया था कि सरला ने चाँदी की तश्तरी में कुछ तराशे हुए फल उनके सामने रख दिये। राजाबाबू फल खाते-खाते सरला से इधर-उधर की बाते करने लगे।

(६)

गरमी की बड़ी छुट्टियों के ८-१० दिन ही बाकी हैं। सतीश ने अब की बार छुट्टी के तीनों महीने बाहर ही काटे। कल उसकी चिट्ठी आई है कि वह आज रात को रामसुन्दर सहित मकान पहुँचेगा। उसका कमरा साफ़ किया गया है। वृद्धा माता भी आज बड़ी खुशी से भोजन बना रही हैं। सरला के मन की आज अद्भुत दशा है। कभी तो वह हर्ष के मारे उछलने लगता है और कभी किसी अज्ञात कारण से उसकी गति और भी कम पड़ जाती है। उसका मुख-सरोज घड़ी-घड़ी पर इन भावों के अस्तोदय के साथ खिलता और मुरझाता है। उसने यह भी सुना है कि सतीश के साथ उसके मित्र भी आवेंगे, जिनके काम में उसने अपनी सारी छुट्टियाँ खर्च की हैं। सरला मन-ही मन सतीश के मित्र पर नाराज़ भी है; क्योंकि उसके कारण ही सतीश की छुट्टियों से वह फायदा नहीं उठा सकी।

सतीश रात के नौ बजे की ट्रेन से मकान पहुँच गया। राजा-बाबू उसकी प्रतीक्षा कर ही रहे थे। उन्होंने बड़े प्रेम से राम-सुन्दर को अपने पास बिठाया और बड़े आग्रह से पूछा—"मुझे आशा है, तुम अपनी चेष्टाओं में अवश्य सफल हुए होगे।" रामसुन्दर ने निराशा-भरी आवाज़ में उत्तर दिया—"सफलता का कोई चिह्न नहीं मिला। भविष्यत् के लिए कोई आशा भी बाकी नहीं रही।" इस पर डाक्टर साहब ने उसे ढारस देकर उसके चित्त के क्षोभ को बहुत कुछ कम कर दिया।

सतीश मामा जी के चरण छूकर अन्दर गया। सरला को

देखते ही उसका मुख-कमल खिल उठा। उसने देखा कि हर चीज़ ठीक रक्खी हुई है और बड़ी सावधानी से उसके आने की बाट देखी जा रही है। सरला ने मुसकरा कर, पर ताने के साथ, पूछा—

"अब की बार आपने कुल छुट्टियाँ बाहर ही बिता दीं ?"

"मित्र के काम के लिए यह सब करना पड़ा, पर कोई फल न हुआ। इसके लिए मुझे भी दुःख है।"

"आपके मित्र का ऐसा क्या काम था, जिसके लिए तीन महीने इधर-उधर घूमना पड़ा और फिर भी वह न हो सका ?"

"उस काम का जिक्र करने से भी, सरला, मुझे दुःख होता है। इसलिए, सुनकर तुम भी दुःखी हुए बिना न रह सकोगी। भोजन की बात तो कहो, क्या देर है ? भूख लग रही है।"

"बिलकुल तैयार है। मैं जाकर नौकर से आसन बिछाने के लिए कहती हूँ। आप, मामा जी और अपने मित्र को साथ लेकर आइए।"

यह कह कर सरला बड़ी फुरती से चली गई। उसने बड़े क़रीने से भोजन चुनना शुरू किया। तीन थालों में भोजन चुना। जिन चीजों को गरम रखने की जरूरत थी, वे अभी तक गरम पानी में रक्खी हुई थीं; भोजन के साथ नहीं परोसी गई थीं। थोड़ी देर में डाक्टर साहब सतीश और रामसुन्दर के साथ आ पहुँचे। भोजन शुरू हुआ, सरला ने बड़ी होशियारी से परोसना आरम्भ किया। भोजन करते समय इधर-उधर की बातें होने लगीं—

सतीश—मामा जी, स्टेशनों पर बहुत बुरा भोजन मिलता है। भाई रामसुन्दर, बलिया के स्टेशन की पूरियाँ याद हैं ?

रामसुन्दर—और लखनऊ के स्टेशन के 'निखालिस दूध' को तो कभी न भूलिएगा।

सतीश—पर, तरकारी तो किसी भी स्टेशन की भूलने की नहीं।

डा० सा०—ऐसे मौकों पर तो फल खा लेने चाहिए।

सतीश—मामाजी, बड़े स्टेशनों को छोड़ कर और स्टेशनों पर फल नहीं मिलते।

बातें भी जारी थीं। खाना भी जारी था। सरला का परोसना भी जारी था। रामसुन्दर यद्यपि बातों में योग दे रहा था; पर उसका ध्यान सरला ही की ओर था। बार बार उसी को देखता था। उसकी इस हरकत से सतीश को थोड़ी-सी भीतरी जलन पैदा हुई। मानिनी सरला ने भी मन में कुछ बुरा माना। भोजन साङ्ग हुआ। रामसुन्दर और सतीश ने एक कण्ठ से कहा—"तीन महीने में आज ही तृप्त होकर भोजन किया।"

चलते समय रामसुन्दर ने मुड़कर एक बार फिर सरला को देखा। अब की बार तो सतीश जल ही गया। दोनों मित्र बाहर आये। सतीश को गुस्सा आ ही रहा था कि रामसुन्दर की इस बेहूदा हरकत पर उसको लानत मलामत दे कि इतने ही में उसने पूछा—

"भाई, यह लड़की कौन है ? जब मैं पहले तुम्हारे यहाँ आया था, तब तो यहाँ यह न थी।"

मानो सतीश की प्रदीप्त क्रोधाग्नि पर मिट्टी का तेल पड़ा। उसने बड़ी घृणा के साथ कहा—

'रामसुन्दर, तुम बड़े नीच हो। जब तक खाते रहे, तब तक उसकी ओर घूरते रहे। जब खाकर बाहर आये, तब फिर-फिरकर उसकी ओर देखा किये। अब तुम्हारी नीचता इतनी बढ़ गई कि मुझसे भी उसी प्रकार के प्रश्न करने लगे। मुझे तुम्हारी नैतिक अवस्था पर बड़ा दुःख है।'

सतीश की यह बकवास सुनकर रामसुन्दर को जरा भी क्रोध न आया। उसने बड़े विनीत भाव से कहा—

"भाई साहब, आप क्या कह रहे हैं? जो कुछ अपने मेरे आचरण के विषय में कहा, ठीक है; पर यह आचरण किस दृष्टि से देखना चाहिये, इस पर आपने विचार नहीं किया। मैं समझता हूँ कि हमारा सैकड़ों मील इधर-उधर घूमना बेकार हुआ। जिसकी हमको तलाश थी, वह हमारे ही घर में मौजूद है। मैं सच कहता हूँ कि कई बार मेरे जी में आया कि अपनी नन्ही को हृदय से लगा लूँ। आप मामाजी से इसके विषय में पूछिए तो। मेरा हृदय कूद रहा है। कार्य सिद्ध हो गया।"

बड़े ही विस्मय और लज्जा के साथ सतीश ने पूछा—

"रामसुन्दर क्या सच कहते हो, यही तुम्हारी बहन नन्ही है?"

'मेरी अवस्था आठ वर्ष की थी, जब प्यारी नन्ही हमसे जुदा हुई थी। मुझे अब तक उसका चेहरा खूब याद है। वह हँसता हुआ और स्वर्गीय कान्ति-पूर्ण चेहरा आज भी मेरी आँखों के सामने फिर रहा है। सरला से उसका चेहरा बहुत

मिलता है। मुझे खूब याद है, उसके गाल पर दो छोटे-छोटे स्याह तिल थे। सरला के चेहरे पर भी वैसे ही हैं। चलिए, मामाजी से इसके विषय में पूछ-ताछ करें।"

दोनों मित्र तत्काल डाक्टर साहब के कमरे में आये। डाक्टर साहब आराम-कुरसी पर लेटे कोई व्यवसाय-सम्बन्धी पुस्तक पढ़ना ही चाहते थे कि ये दोनों वहाँ पहुँच गये। उन्होंने कहा—

"सतीश, अब आराम करो। बहुत थके हो।"

सतीश ने धीरे से कहा—"मामाजी, रामसुन्दर सरला के विषय में आप से कुछ पूछना चाहते है!"

डाक्टर साहब ने भाव-पूर्ण दृष्टि से रामसुन्दर को देखा, जिसका चेहरा हर्ष और विस्मय के मिले हुए भाव से एक विशेष प्रकार का आकार धारण कर रहा था।

डाक्टर साहब ने कहा—

"सरला के विषय में आप क्या और क्यों पूछना चाहते हैं?"

रामसुन्दर बड़े विनीत भाव से बोला—

"मामाजी! आज मैं अपने घर का एक रहस्य सुनाता हूँ। उसी विषय में मैं और भाई सतीश इधर-उधर सैकड़ों मील घूमा किये। मगर सफलता तो क्या, उसके चिह्न तक भी नहीं मिले। अब मैं उस रहस्य को सुनाता हूँ। मेरे पिता दो भाई थे—रामप्रसाद और शिवप्रसाद। रामप्रसादजी मेरे पिता थे। शिवप्रसादजी के एक कन्या थी, जिसको घर के लोग स्नेह-वश नन्ही कहा करते थे। वह मुझ से छः वर्ष छोटी थी। मेरे चाचा—नन्ही के पिता—का देहान्त मेरे पिता के सामने हो

गया था। मेरी चाचाजी का स्वभाव बड़ा उग्र था। वे अपनी आन की बड़ी पक्की थीं। एक दिन मेरे पिता ने किसी घरेलू बात पर गुस्सा होकर उनसे घर से निकल जाने की बहुत ही बुरी बात कह दी। उसके लिए उनको सदा पश्चात्ताप रहा और इस बड़े भारी कलङ्क को साथ लिये ही उन्होंने इह-लोक को त्याग किया। मेरी चाची ने उसी रात को घर छोड़ दिया। नन्ही को भी वे साथ ले गईं। मेरे पिता ने बहुत तलाश की; पर पता न लगा। मरते समय उन्होंने मुझको अन्तिम नसीहत के तौर पर यही कहा कि 'जिस तरह हो, अपनी चाची और बहन का पता लगाना। यदि पता लग जाय तो उनकी सम्पत्ति मय उस दिन तक के सूद के उनको दे देना। इस तरह मेरी आत्मा के कलङ्क को धोने की चेष्टा करना। मेरा गया श्राद्ध इसे ही समझना। यदि पता न लगे, तो तू भी विवाह मत करना। अपने शरीर के साथ ही वंश की समाप्ति कर देना, क्योंकि इस कलङ्क के साथ वंश-वृद्धि करना मानो कलङ्क को जिन्दा रखना है। बेटा, वंशनाश ही इस पाप का एक छोटा-सा, पर भयानक प्रायश्चित्त है। आशा है, तुम इस प्रायश्चित्त-द्वारा, मेरे कारण अपने वंश पर लगे इस कलङ्क से उसको मुक्त करने का—जरूरत हुई तो—सुप्रयत्न करोगे।' यह कहते-कहते मेरे पिता के प्राण-पखेरू उड़ गये। उनकी मृत्यु के बाद से मैं व्यग्र था कि इस विषय में क्या करूँ। भाई सतीशचन्द्र से मैंने अपना रहस्य खोलकर कह दिया था और इन्होंने सदा की तरह मेरे इस दुःख में भी भाग लेना स्वीकार

कर लिया था। अब जैसा कि आपको मालूम है, हम लोग सैकड़ों मील का चक्कर और न-मालूम किन-किन मुसीबतों को भेलकर वापिस आ गये और कार्य्य-सिद्धि न हुई। पर, यहाँ आकर—यहाँ सरला को देखकर—मेरी अन्तरात्मा बार-बार यह कह रही है, कि यही मेरी बहन नन्ही है। अब आप कृपा करके यह बतलाइए कि सरला के विषय में मेरी जो यह धारणा है, उसको आप अमूलक तो नहीं समझते।"

डाक्टर साहब ने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया—

"रामसुन्दर, मैं इसके उत्तर में स्वयं कुछ न कह कर तुम को वे पत्र दिये देता हूँ, जो सरला की माता ने मरते समय सरला के साथ ही मुझे सिपुर्द किये थे। मुझे प्रतीत होता है कि तुम अपनी चेष्टाओं में सफल हुआ चाहते हो।"

डाक्टर साहब ने बक्स खोलकर वे दोनो लिफाफे रामसुन्दर के हाथ में दे दिये, जो सरला की माता ने उनको दिये थे। रामसुन्दर ने दोनों लिफाफों को खोलकर पढ़ा। उनको पढ़ते ही उसको निश्चय हो गया कि उसकी चाची का ही यह पत्र है और उसके पिता का ही वह इकरारनामा है। सरला भी प्यारी नन्ही के सिवा और कोई नहीं। रामसुन्दर डाक्टर बाबू के चरणों पर गिर पड़ा और सतीश, जो इस अभिनय को देखकर आश्चर्य में डूब रहा था, उठकर बाहर चला गया। डाक्टर-बाबू ने सरला को बुलाया। वह तुरन्त आकर उपस्थित हो गई। रामसुन्दर भावावेश को न रोक सका और सरला को हृदय से लगा कर अश्रु-वर्षण करने लगा। यदि डाक्टर बाबू

सरला से यह न कहते, तो वह अपने को बड़ी विपत्ति में समझती—

"बेटी, ये तुम्हारे भाई रामसुन्दर हैं। तुम्हारी तलाश में बहुत दूर तक घूम आये हैं। तुम उस दिन कहती थीं कि तुम्हारी माता तुमसे कभी-कभी जिक्र किया करती थीं कि सरला, तुम्हारे एक भाई है। वह अवश्य एक दिन तुमको मिलेगा। आज तुम्हारी स्वर्गीया माता की भविष्यवाणी पूरी हुई।"

७

चार मास के बाद डाक्टर राजनाथ ने नीचे लिखा हुआ निमन्त्रण पत्र अपने मित्रों के नाम भेजा—

"प्रिय महोदय,

मेरे भानजे श्रीसतीशचन्द्र विद्यानिधि, एम० ए० का विवाह जौनपुर के सुप्रसिद्ध रईस स्वर्गीय पंडित शिवप्रसाद जी की कन्या के साथ होना निश्चित हुआ है। आपसे प्रार्थना है कि वसन्त-पञ्चमी के दिन शाम को मेरे निवास-स्थान पर पधार कर भोज में सम्मिलित हूजिए और दूसरे दिन प्रातःकाल ६ बजे की ट्रेन से बारात में सम्मिलित होकर मेरी मान वृद्धि कीजिए।

निवेदक—

राजनाथ।"

कहने की जरूरत नहीं कि सरला का विवाह सतीश के साथ बड़ी धूम-धाम से हो गया। रामसुन्दर ने उसकी

कुल सम्पत्ति दहेज में सरला के अर्पण कर दी। आज तक रामसुन्दर और सतीश मित्रता के ही जबरदस्त पाश में बद्ध थे, अब वे मित्रता और आत्मीयता के डबल पाश में बेतरह जकड़ गये।

शरणागत

(श्री वृन्दावनलाल वर्मा)

१

रज्जब अपना रोजगार करके ललितपुर लौट रहा था। साथ में स्त्री थी, और गाँठ में दो-तीन सौ की बड़ी रकम। मार्ग बीहड़ था, और सुनसान। ललितपुर काफी दूर था, बसेरा कहीं न कहीं लेना ही था, इसलिए उस ने मड़पुरा नामक गाँव में जाने का निश्चय किया। उसकी पत्नी को बुखार हो आया था, रकम पास में थी, और बैलगाड़ी किराये पर करने में खर्च ज्यादा पड़ता, इसलिए रज्जब ने उस रात आराम कर लेना ही ठीक समझा।

परन्तु ठहरता कहाँ! जात छिपाने से काम नहीं चल सकता था। उसकी पत्नी नाक और कानों में चाँदी की बालियाँ डाले थी, और पैजामा पहने थी। इस के सिवाय गाँव के बहुत से लोग उसको पहचानते भी थे। वह उस गाँव के बहुत से कर्मण्य और अकर्म्यण्य ढोर खरीदकर ले जा चुका था।

अपने व्यवहारियों से उसने रात-भर के बसेरे के लायक स्थान की याचना की, किन्तु किसी ने भी मंजूर न किया। उन लोगों ने अपने ढोर रज्जब को अलग अलग और छिपे-लुके बेचे थे। ठहराने में तुरन्त ही तरह-तरह की खबरें फैलतीं इसलिए सब ने इनकार कर दिया।

गाँव में एक गरीब ठाकुर रहता था। थोड़ी-सी जमीन थी, जिसको किसान जोतते थे। निज का हल-बैल कुछ भी न था। लेकिन अपने किसानों से दो-तीन साल का पेशगी लगान वसूल कर लेने में ठाकुर को किसी विशेष बाधा का सामना नहीं करना पड़ता था। छोटा-सा मकान था, परन्तु उसको गाँव वाले गढ़ी के आदर-व्यंजक शब्द से पुकारा करते थे और ठाकुर को डर के मारे 'राजा' शब्द से सम्बोधित करते थे।

शामत का मारा रज्जब इसी ठाकुर के दरवाज़े पर अपनी ज्वरग्रस्त पत्नी को लेकर पहुँचा।

ठाकुर पौर में बैठा हुक्का पी रहा था। रज्जब ने बाहर से ही सलाम करके कहा—"दाऊ जू, एक बिनती है।"

ठाकुर ने बिना एक रत्ती-भर इधर-उधर हिले डुले पूछा—"क्या?"

रज्जब बोला—"मैं दूर से आ रहा हूँ। बहुत थका हुआ हूँ। मेरी औरत को जोर से बुखार आ गया है। जाड़े में बाहर रहने से न जाने इसकी क्या हालत हो जायगी, इसलिए रात-भर के लिए कहीं दो हाथ जगह दे दी जाय।"

"कौन लोग हो?" ठाकुर ने प्रश्न किया।

"हूँ तो कसाई।" रज्जब ने सीधा उत्तर दिया। चेहरे पर उसके बहुत गिड़गिड़ाहट थी।

ठाकुर की बड़ी-बड़ी आँखों में कठोरता छा गई। बोला—"जानता है, यह किसका घर है? यहाँ तक आने की हिम्मत कैसे की तूने?"

रज्जब ने आशा-भरे स्वर में कहा—"यह राजा का घर है। इसीलिए शरण में आया हूँ।"

तुरन्त ठाकुर की आँखों की कठोरता गायब हो गई। जरा नरम स्वर में बोला—"किसी ने तुमको बसेरा नहीं दिया?"

"नहीं महाराज!" रज्जब ने उत्तर दिया—"बहुत कोशिश की, परन्तु मेरे खोटे पेशे के कारण कोई सीधा नहीं हुआ।" और वह दरवाजे के बाहर ही, एक कोने से चिपट कर बैठ गया। पीछे उसकी पत्नी कराहती काँपती हुई गठरी-सी बनकर सिमट गई।

ठाकुर ने कहा—"तुम अपनी चिलम लिये हो?"

"हाँ, सरकार!" रज्जब ने उत्तर दिया।

ठाकुर बोला—"तब भीतर आ जाओ, और तमाखू अपनी चिलम से पी लो। अपनी औरत को भी भीतर कर लो। हमारी पौर के एक कोने में पड़े रहना।"

जब वे दोनों भीतर आ गये, ठाकुर ने पूछा—"तुम कब यहाँ से उठ कर जाओगे?" जवाब मिला—"अँधेरे में ही महाराज! खाने के लिए रोटियाँ बाँधे हूँ, इस लिए पकाने की जरूरत न पड़ेगी।"

"तुम्हारा नाम?"

"रज्जब।"

२

थोड़ी देर बाद ठाकुर ने रज्जब से पूछा—"कहाँ से आ रहे हो?" रज्जब ने स्थान का नाम बतलाया।

"वहाँ किस लिए गये थे ?"

"अपने रोजगार के लिए !"

"काम तो तुम्हारा बहुत बुरा है।"

"क्या करूँ पेट के लिए करना पड़ता है। परमात्मा ने जिस के लिए जो रोजगार मुकर्रर किया है. वही उसको करना पड़ता है।

"क्या नफा हुआ ?" प्रश्न करने में ठाकुर को जरा सङ्कोच हुआ, और प्रश्न का उत्तर देने में रज्जब को उससे बढ़कर !

रज्जब ने जवाब दिया—"महाराज, पेट के लायक कुछ मिल गया है, यों ही।" ठाकुर ने इस पर कोई ज़िद नहीं की।

रज्जब एक क्षण बाद बोला—"बड़े भोर उठ कर चला जाऊँगा। तब तक घर के लोगों की तबीयत भी अच्छी हो जायगी।"

इसके बाद दिन-भर के थके हुए पति-पत्नी सो गये। काफी रात गये कुछ लोगों ने एक बँधे इशारे से ठाकुर को बाहर बुलाया। एक फटी रजाई ओढ़े ठाकुर बाहर निकल आया।

आगंतुकों में से एक ने धीरे से कहा—"दाऊजी ! आज तो खाली हाथ लौटे हैं। कल संध्या का सगुन बैठा है।"

ठाकुर ने कहा—"आज ज़रूरत थी। खैर, कल देखा जायगा। क्या कोई उपाय किया था ?"

"हाँ"—आगंतुक बोला—"एक कसाई रुपये की मोट बाँधे इसी ओर आया है। परन्तु हम लोग ज़रा देर में पहुँचे। वह खिसक गया। कल देखेंगे। ज़रा जल्दी।"

ठाकुर ने घृणा-सूचक स्वर में कहा—"कसाई का पैसा न छुएँगे।"

"क्यों?"

"बुरी कमाई है।"

"उसके रुपयों पर कसाई थोड़े ही लिखा है।"

"रुपया तो दूसरों का ही है। कसाई के हाथ में आने से रुपया कसाई नहीं हुआ।"

"मेरा मन नहीं मानता, वह अशुद्ध है।"

"हम अपनी तलवार से उसको शुद्ध कर लेंगे।"

ज्यादा बहस नहीं हुई। ठाकुर ने कुछ सोचकर अपने साथियों को बाहर का बाहर ही टाल दिया।

भीतर देखा, कसाई सो रहा था, और उसकी पत्नी भी।

ठाकुर भी सो गया।

३

सवेरा हो गया, परन्तु रज्जब न जा सका। उसकी पत्नी का बुखार तो हलका हो गया था, परन्तु शरीर-भर में पीड़ा थी, और वह एक कदम भी नहीं चल सकती थी।

ठाकुर उसे वहीं ठहरा हुआ देख कर कुपित हो गया। रज्जब से बोला—"मैंने खूब मेहमान इकट्ठे किये हैं। गाँव भर थोड़ी देर में तुम लोगों को मेरी पौर में टिका हुआ देखकर तरह-तरह की बकवास करेगा। तुम बाहर जाओ और इसी समय।

रज्जब ने बहुत विनती की, किन्तु ठाकुर न माना। यद्यपि गाँव उसके दबदबे को मानता था, परन्तु अव्यक्त लोक-मत का

दबदबा उसके मन पर भी था। इसलिए रज्जब गाँव के बाहर सपत्नीक एक पेड़ के नीचे जा बैठा, और हिन्दू मात्र को मन ही मन कोसने लगा।

उसे आशा थी कि पहर आध पहर में उसकी पत्नी की तबीयत इतनी स्वस्थ हो जायगी कि वह पैदल यात्रा कर सकेगी। परन्तु ऐसा न हुआ, तब उसने एक गाड़ी किराये पर कर लेने का निर्णय किया।

मुश्किल से एक चमार काफी किराया लेकर ललितपुर गाड़ी ले जाने के लिए राजी हुआ। इतने में दोपहर हो गई। उसकी पत्नी को जोर का बुखार आया। वह जाड़े के मारे थर-थर काँप रही थी, इतनी कि रज्जब की हिम्मत उसी समय ले जाने की न पड़ी। गाड़ी में अधिक हवा लगने के भय से रज्जब ने उस समय तक के लिए यात्रा को स्थगित कर दिया, जब तक कि उस बेचारी की कम से कम कँपकँपी बन्द न हो जाय।

घंटे डेढ़ घंटे बाद उसकी कँपकँपी बन्द हो गई, परन्तु ज्वर बहुत तेज़ हो गया। रज्जब ने अपनी पत्नी को गाड़ी में डाल दिया, और गाड़ीवान से जल्दी चलने को कहा।

गाड़ीवान बोला—"दिन भर तो यहीं लगा दिया। अब जल्दी चलने को कहते हो।"

रज्जब ने मिठास के स्वर में उससे फिर जल्दी करने के लिए कहा।

वह बोला—'इतने किराये में काम नहीं चल सकेगा। अपना रुपया वापस लो। मैं घर जाता हूँ।"

रज्जब ने दाँत पीसे। कुछ क्षण चुप रहा। सचेत हो कर कहने लगा—"भाई, आफत सबके ऊपर आती है। मनुष्य मनुष्य को सहारा देता है, जानवर तो देते नहीं। तुम्हारे भी बाल-बच्चे हैं। कुछ दया के साथ काम लो।"

कसाई को दया पर व्याख्यान देते सुन कर गाड़ीवान को हँसी आ गई।

उस को टस से मस न होता देखकर रज्जब ने और पैसे दिये तब उस ने गाड़ी हाँकी।

४

पाँच-छः मील चलने के बाद संध्या हो गई। गाँव कोई पास में न था। रज्जब की गाड़ी धीरे धीरे चली जा रही थी। उसकी पत्नी बुखार में बेहोश-सी थी। रज्जब ने अपनी कमर टटोली। रकम सुरक्षित बँधी पड़ी थी

रज्जब को स्मरण हो आया कि पत्नी के बुखार के कारण अंटी का कुछ बोझ कम कर देना पड़ा है—और स्मरण हो आया गाड़ीवान का वह हठ जिसके कारण उस को कुछ पैसे व्यर्थ ही और दे देने पड़े थे। उसे गाड़ीवान पर क्रोध था, परन्तु उसको प्रकट करने की उस समय उसके मन में इच्छा न थी।

बातचीत करके रास्ता काटने की कामना से उसने वार्तालाप आरम्भ किया—

"गाँव तो यहाँ से दूर मिलेगा।"

"बहुत दूर, वहीं ठहरेंगे।"

"किस के यहाँ?"

"किसी के यहाँ भी नही। पेड़ के नीचे। कल सवेरे ललितपुर चलेंगे।"

कल का फिर पैसा माँग उठाना।"

"कैसे माँग उठूँगा ? किराया ले चुका हूँ। अब फिर कैसे माँगूँगा ?"

"जैसे आज गाँव में हठ कर के माँगा था। बेटा ! ललितपुर होता तो बतला देता।"

"क्या बतला देते ? क्या सेंतमेंत गाड़ी में बैठना चाहते थे ?"

"क्यों बे, क्या रुपया देकर भी सेंतमेंत का बैठना कहाता है ? जानता है मेरा नाम रज्जब है। अगर बीच में गड़बड़ करेगा, तो साले को यहीं छुरी से काट कर कहीं फेंक दूँगा, और गाड़ी लेकर ललिपुर चल दूँगा।"

रज्जब क्रोध को प्रकट नहीं करना चाहता था, परन्तु शायद अकारण ही वह भली-भाँति प्रकट हो गया।

गाड़ीवान ने इधर-उधर देखा। अँधेरा हो गया था। चारों ओर सुनसान था। आस-पास झाड़ी खड़ी थी, ऐसा जान पड़ता था, कहीं से कोई अब निकला और अब निकला। रज्जब की बात सुनकर उसकी हड्डी-हड्डी काँप गई। ऐसा जान पड़ा, मानो पसलियों को उसकी ठंडी छुरी छू रही हो।

गाड़ीवान चुपचाप बैलों को हाँकने लगा, उसने सोचा—गाँव के आते ही गाड़ी छोड़ कर नीचे खड़ा हो जाऊँगा, और हल्ला गुल्ला करके गाँववालों की मदद से अपना पीछा रज्जब से छुड़ाऊँगा ! रुपये-पैसे भले ही वापस कर दूँगा,

परन्तु और आगे न जाऊँगा कहीं सचमुच मार्ग में मार डाले।

५

गाड़ी थोड़ी दूर और चली होगी कि बैल ठिठक कर खड़े हो गये। रज्जब सामने न देख रहा था, इसलिए जरा कड़क कर गाड़ीवान से बोला—'क्यों बे बदमाश! सो गया क्या ?"

अधिक कड़क के साथ सामने रास्ते पर खड़ी हुई एक टुकड़ी में से किसी के कठोर कंठ के निकला—"खबरदार, जो आगे बढ़ा।"

रज्जब ने सामने देखा कि चार-पाँच आदमी बड़े वड़े लट्ठ बाँधकर न जाने कहाँ से आ गये हैं। उनमें से तुरन्त ही एक ने बैलों की जुआरों पर एक लट्ठ पटका और दो दाएँ-बाएँ आकर रज्जब पर आक्रमण करने को तैयार हो गये।

गाड़ीवान गाड़ी छोड़कर नीचे जा खड़ा हुआ। बोला—"मालिक! मैं तो गाड़ीवान हूँ। मुझ से कोई सरोकार नहीं।"

"यह कौन है ?" एक ने गरज कर पूछा—

गाड़ीवान की घिग्घी बँध गई। कोई उत्तर न दे सका।

रज्जब ने कमर की गाँठ को एक हाथ से सँभालते हुए बहुत ही विनम्र स्वर में कहा—"मैं बहुत गरीब आदमी हूँ। मेरे पास कुछ नहीं है। मेरी औरत गाड़ी में बीमार पड़ी है। मुझे जाने दीजिये।"

उन लोगों में से एक ने रज्जब के सिर पर लाठी उवारी।

गाड़ीवान खिसकना चाहता था कि दूसरे ने उस को पकड़ लिया।

अब उसका मुँह खुला। बोला—"महाराज, मुझको छोड़ दो। मैं तो किराये पर गाड़ी लिये जा रहा हूँ। गाँठ में खाने के लिए तीन चार आने पैसे ही है।"

"और यह कौन है? बतला।" उन लोगों में से एक ने पूछा—

गाड़ीवान ने तुरन्त उत्तर दिया—"ललितपुर का एक कसाई।"

रज्जब के सिर पर जो लाठी उबारी गई थी, वह वहीं रह गई, लाठीवाले के मुँह से निकला—"तुम कसाई हो? सच बताओ।"

"हाँ, महाराज!" रज्जब ने सहसा उत्तर दिया—"मैं बहुत गरीब हूँ; हाथ जोड़ता हूँ, मुझको मत सताओ। मेरी औरत बहुत बीमार है।"

औरत ज़ोर से कराही।

लाठीवाले उस आदमी ने अपने एक साथी से कान में कहा—"इसका नाम रज्जब है। छोड़ो। चलें यहाँ से।"

उसने न माना। बोला—"इसका खोपड़ा चकनाचूर करो दाऊजी! यदि वैसे न माने तो। असाई-कसाई हम कुछ नहीं मानते।"

"छोड़ना ही पड़ेगा"; उसने कहा—"इस पर हाथ न पसारेंगे और न इसका पैसा छुएँगे।

दूसरा बोला—'क्या कसाई होने के डर से? दाऊजी! आज तुम्हारी बुद्धि पर पत्थर पड़ गये हैं; मैं देखता हूँ।" और, वह तुरन्त लाठी लेकर गाड़ी पर चढ़ गया। लाठी का एक सिरा रज्जब की छाती में अड़ाकर उसने तुरन्त रुपया पैसा निकाल कर देने का हुक्म दिया। नीचे खड़े हुए उस व्यक्ति ने ज़रा तीव्र स्वर में कहा—"नीचे उतर आओ, उससे मत बोलो। उसकी औरत बीमार है।"

"हो, मेरी बला से," गाड़ी में चढ़े हुए लठैत ने उत्तर दिया—'मैं कसाइयों की दवा हूँ!" और उसने रज्जब को फिर धमकी दी।

नीचे खड़े हुए उस व्यक्ति ने कहा—"खबरदार, जो उसे छुआ। नीचे उतरो, नहीं तो तुम्हारा सिर चूर किये देता हूँ। वह मेरी शरण आया था।"

गाड़ीवान लठैत झख-सी मारकर नीचे उतर आया।

नीचे वाले व्यक्ति ने कहा—"सब लोग अपने अपने घर जाओ। राहगीरों को तंग मत करो।" फिर गाड़ीवान से बोला—"जा रे, हाँक ले जा गाड़ी। ठिकाने तक पहुँचा आना, तब लौटना। नहीं तो अपनी खैर मत समझियो। और तुम दोनों में से किसी ने भी कभी इस बात की चर्चा कहीं की तो भूसी की आग में जलाकर खाक कर दूँगा।"

गाड़ीवान गाड़ी लेकर बढ़ गया। उन लोगों में से जिस आदमी ने गाड़ी पर चढ़ कर रज्जब के सिर पर लाठी तानी थी, उसने क्षुब्ध स्वर में कहा—

"दाऊजी ! आगे से कभी आपके साथ न आऊँगा।"

दाऊजी ने कहा—न आना। मैं अकेले ही बहुत कर गुज़रता हूँ। परन्तु बुंदेला शरणागत के साथ घात नहीं करता, इस बात को गाँठ बाँध लेना।"

पुरस्कार

(श्री जयशंकर प्रसाद)

आर्द्रा नक्षत्र; !अकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव-दुन्दुभी का गम्भीर घोष। प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण पुरुष झाँकने लगा था—देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अंचल में समतल उर्वरा-भूमि से सोंधी बास उठ रही थी। नगर-तोरण से जयघोष हुआ, भीड़ में गजराज का चामरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पड़ा। वह हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोरें भरता हुआ आगे बढ़ने लगा।

प्रभात की हेम-किरणों से अनुरंजित नन्हीं-नहीं बूँदों का एक झोंका स्वर्ण-मल्लिका के समान बरस पड़ा। मंगल-सूचना से जनता ने हर्ष-ध्वनि की।

रथों, हाथियों और अश्वारोहियों की पंक्ति जम गई। दर्शकों की भीड़ भी कम न थी। गजराज बैठ गया, सीढ़ियों से महाराज उतरे। सौभाग्यवती और कुमारी सुन्दरियों के दो दल, आम्र-पल्लवों से सुशोभित मंगल-कलश और फूल, कुंकुम तथा खीलों से भरे थाल लिये, मधुर गान करते हुए आगे बढ़े।

महाराज के मुख पर मधुर मुसक्यान थी। पुरोहित-वर्ग ने स्वस्त्ययन किया। स्वर्ण-रंजित हल की मूठ पकड़ कर महाराज ने जुते हुए सुन्दर पुष्ट बैलों को चलने का संकेत किया। बाजे

बजने लगे। किशोरी कुमारियों ने खीलों और फूलों की वर्षा की।

कोशल का यह उत्सव प्रसिद्ध था। एक दिन के लिए महाराज को कृषक बनना पड़ता—उस दिन इन्द्र-पूजन की धूमधाम होती; गोठ होती। नगर-निवासी उस पहाड़ी भूमि में आनन्द मनाते। प्रतिवर्ष कृषि का यह महोत्सव उत्साह से सम्पन्न होता; दूसरे राज्यों से भी युवक राजकुमार इस उत्सव में बड़े चाव से आकर योग देते।

मगध का एक राजकुमार अरुण अपने रथ पर बैठा बड़े कुतूहल से यह दृश्य देख रहा था।

बीजों का एक थाल लिये कुमारी मधूलिका महाराज के साथ थी। बीज बोते हुए महाराज जब हाथ बढ़ाते तब मधूलिका उनके सामने थाल कर देती। यह खेत मधूलिका का था, जो इस साल महाराज की खेती के लिए चुना गया था; इसलिए बीज देने का सम्मान मधूलिका ही को मिला। वह कुमारी थी। सुन्दरी थी। कौशेय वसन उसके शरीर पर इधर-उधर लहराता हुआ स्वयं शोभित हो रहा था। वह कभी उसे सम्हालती और कभी अपने रूखे अलकों को। कृषक-बालिका के शुभ्र भाल पर श्रमकणों की भी कमी न थी, वे सब बरौनियो में गुँथे जा रहे थे। सम्मान और लज्जा उसके अधरों पर मन्द मुसकराहट के साथ सिहर उठते; किन्तु महाराज को बीज देने में उसने शिथिलता नहीं की। सब लोग महाराज का हल चलाना देख रहे थे—विस्मय से, कुतूहल से। और अरुण देख रहा था कृषककुमार

मधूलिका को। आह कितना भोला सौन्दर्य! कितनी सरल चितवन!

उत्सव का प्रधान कृत्य समाप्त हो गया। महाराज ने मधूलिका के खेत का पुरस्कार दिया, थाल में कुछ स्वर्ण मुद्राएँ। वह राजकीय अनुग्रह था। मधूलिका ने थाली सिर से लगा ली; किन्तु साथ ही उसमें की स्वर्ण-मुद्राओं को महाराज पर न्योछावर करके बिखेर दिया। मधूलिका की उस समय की ऊर्जस्वित मूर्ति लोग आश्चर्य से देखने लगे। महाराज की भृकुटि भी जरा चढ़ी ही थी कि मधूलिका ने सविनय कहा—

देव! यह मेरे पितृ-पितामहों की भूमि है। इसे बेचना अपराध है; इसलिए मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है। महाराज के बोलने के पहले ही वृद्ध मंत्री ने तीखे स्वर से कहा—अबोध! क्या बक रही है? राजकीय अनुग्रह का तिरस्कार! तेरी भूमि से चौगुना मूल्य है; फिर कोशल का तो यह सुनिश्चित राष्ट्रीय नियम है। तू आज से राजकीय रक्षण पाने की अधिकारिणी हुई, इस धन से अपने को सुखी बना।

राजकीय रक्षण की अधिकारिणी तो सारी प्रजा है मन्त्रिवर!……महाराज को भूमि-समर्पण करने में तो मेरा कोई विरोध न था और न है; किन्तु मूल्य स्वीकर करना असम्भव है।—मधूलिका उत्तेजित हो उठी थी।

महाराज के संकेत करने पर मन्त्री ने कहा—देव! वाराणसी युद्ध के अन्यतम वीर सिंहमित्र की यह एक-मात्र कन्या है।—

महाराज चौंक उठे—सिंहमित्र की कन्या! जिसने मगध के सामने कोशल की लाज रख ली थी, उसी वीर की मधूलिका कन्या है?

हाँ, देव!—सविनय मन्त्री ने कहा।

इस उत्सव के परम्परागत नियम क्या हैं, मन्त्रिवर?—महाराज ने पूछा।

देव, नियम तो बहुत साधारण हैं। किसी भी अच्छी भूमि को इस उत्सव के लिए चुन कर नियमानुसार पुरस्कार-स्वरूप उसका मूल्य दे दिया जाता है। वह भी अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक अर्थात् भूसम्पत्ति का चौगुना मूल्य उसे मिलता है। उस खेती को वही व्यक्ति वर्ष भर देखता है। वह राजा का खेत कहा जाता है।

महाराज को विचार-संघर्ष से विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता थी। महाराज चुप रहे। जयघोष के साथ सभा विसर्जित हुई। सब अपने-अपने शिविरों में चले गये; किन्तु मधूलिका को उत्सव में फिर किसी ने न देखा। वह अपने खेत की सीमा पर विशाल मधूक वृक्ष के चिकने हरे पत्तों की छाया में अनमनी चुपचाप बैठी रही।

× × ×

रात्रि का उत्सव अब विश्राम ले रहा था। राजकुमार अरुण उसमें सम्मिलित नहीं हुआ—वह अपने विश्राम-भवन में जागरण कर रहा था। आँखों में नींद न थी। प्राची में जैसी गुलाली खिल रही थी वही रंग उसकी आँखों में था। सामने

देखा तो मुँडेर पर कपोती एक पैर पर खड़ी पंख फैलाये अँगड़ाई ले रही थी। अरुण उठ खड़ा हुआ। द्वार पर सुसज्जित अश्व था, वह देखते-देखते नगर तोरण पर जा पहुँचा। रक्तकगण ऊँघ रहे थे, अश्व के पैरों के शब्द से चौंक उठे।

युवक कुमार तीर-सा निकल गया। सिन्धु देश का तुरंग प्रभात के पवन से पुलकित हो रहा था। घूमता-घूमता अरुण उसी मधूक वृक्ष के नीचे पहुँचा, जहाँ मधूलिका अपने हाथ पर सिर धरे हुए खिन्न निद्रा का सुख ले रही थी।

अरुण ने देखा, एक छिन्न माधवी लता वृक्ष की शाखा से च्युत होकर पड़ी है। सुमन मुकुलित, भ्रमर निस्पन्द थे। अरुण ने अपने अश्व को मौन रहने का संकेत किया; उस सुषमा को देखने के लिए; परन्तु कोकिल बोल उठा। जैसे उसने अरुण से प्रश्न किया—छिः, कुमारी के सोये हुए सौंदर्य पर दृष्टिपात करनेवाले धृष्ट, तुम कौन ? मधूलिका की आँखें खुल पड़ीं। उसने देखा, एक अपरिचित युवक। वह संकोच से उठ बैठी।—भद्रे! तुम्हीं न कल के उत्सव की संचालिका रही हो ?

उत्सव! हाँ, उत्सव ही तो था।

कल उस सम्मान...

क्यों आपको कल का स्वप्न सता रहा है? भद्र! आप, क्या मुझे इस अवस्था में सन्तुष्ट न रहने देंगे ?

मेरा हृदय तुम्हारी उस छवि का भक्त बन गया है देवि!

मेरे उस अभिनय का—मेरी विडम्बना का। आह! मनुष्य कितना निर्दय है, अपरिचित! क्षमा करो, जाओ अपने मार्ग।

सरलता की देवि ! मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे अनुग्रह का प्रार्थी हूँ—मेरे हृदय की भावना अवगुण्ठन में रहना नहीं जानती। उसे अपनी...।

राजकुमार ! मैं कृषक-बालिका हूँ। आप नन्दनविहारी और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीनेवाली। आज मेरी स्नेह की भूमि पर से मेरा अधिकार छीन लिया गया है। मैं दुःख से विकल हूँ; मेरा उपहास न करो।

मैं कोशल-नरेश से तुम्हारी भूमि तुम्हें दिलवा दूँगा।

नहीं, वह कोशल का राष्ट्रीय नियम है। मैं उसे बदलना नहीं चाहती—चाहे उससे मुझे कितना ही दुःख हो।

तब तुम्हारा रहस्य क्या है ?

यह रहस्य मानव-हृदय का है, मेरा नहीं। राजकुमार, नियमों से यदि मानव-हृदय बाध्य होता, तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिंच कर एक कृषक-बालिका का अपमान करने न आता। मधूलिका उठ खड़ी हुई।

चोट खाकर राजकुमार लौट पड़ा। किशोर किरणों में उसका रत्न किरीट चमक उठा। अश्व वेग से चला जा रहा था और मधूलिका निष्ठुर प्रहार करके क्या स्वयं आहत न हुई ? उसके हृदय में टीस-सी होने लगी। वह सजल नेत्रों से उड़ती हुई धूल देखने लगी।

+ + +

मधूलिका ने राजा का प्रतिपादन, अनुग्रह नहीं लिया। वह

दूसरे खेतों मे काम करती और चौथे पहर रूखी-सूखी खाकर पड़ रहती। मधूक-वृक्ष के नीचे छोटी-सी पर्णकुटीर थी। सूखे डंठलों से उसकी दीवार बनी थी। मधूलिका का वही आश्रय था। कठोर परिश्रम से जो रूखा अन्न मिलता, वही उसकी साँसों को बढ़ाने के लिए पर्याप्त था।

दुबली होने पर भी उसके अंग पर तपस्या की कान्ति थी। आस-पास के कृषक उसका आदर करते। वह एक आदर्श बालिका थी। दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष बीतने लगे।

शीतकाल की रजनी मेघों से भरा आकाश, जिसमें बिजली की दौड़-धूप। मधूलिका का छाजन टपक रहा था! ओढ़ने की कमी थी। वह ठिठुर कर एक कोने में बैठी थी। मधूलिका अपने अभाव को आज बढ़ा कर सोच रही थी। जीवन से सामंजस्य बनाये रखनेवाले उपकरण तो अपनी सीमा निर्धारित रखते है; परन्तु उनकी आवश्यकता और कल्पना भावना के साथ बढ़ती-घटती रहती है। आज बहुत दिनों पर उसे बीती हुई बात स्मरण हुई—दो, नहीं नहीं तीन वर्ष हुए होंगे, इसी मधूक के नीचे प्रभात में—तरुण राजकुमार ने क्या कहा था?

वह अपने हृदय से पूछने लगी—उन चाटुकारी के शब्दों को सुनने के लिए उत्सुक-सी वह पूछने लगी—क्या कहा था? दुःख-दग्ध हृदय उन स्वप्न-सी बातों को स्मरण रख सकता था! और स्मरण ही होता, तो भी कष्टों को इस काली निशा में वह कहने का साहस करता! हाय री विडम्बना!

आज मधूलिका उस बीते हुए क्षण को लौटा लेने के लिए

विकल थी। दारिद्र्य की ठोकरों ने उसे व्यथित और अधीर कर दिया है। मगध की प्रासाद माला के वैभव का काल्पनिक चित्र—उन सूखे डंठलों के रन्ध्रों से, नभ में—बिजली के आलोक में—नाचता हुआ दिखाई देने लगा। खिलवाड़ी शिशु जैसे श्रावण की सन्ध्या में जुगनू को पकड़ने के लिए हाथ लपकाता है, वैसे ही मधूलिका मन-ही-मन कह रही थी। 'अभी वह निकल गया।' वर्षा ने भीषण रूप धारण किया। गड़गड़ाहट बढ़ने लगी; ओले पड़ने की सम्भावना थी। मधूलिका अपनी जर्जर झोंपडी के लिए काँप उठी। सहसा बाहर कुछ शब्द हुआ—

कौन है यहाँ ? पथिक को आश्रय चाहिए।

मधूलिका ने डंठलों का कपाट खोल दिया। बिजली चमक उठी। उसने देखा, एक पुरुष घोड़े की डोर पकड़े खड़ा है। सहसा वह चिल्ला उठी—राजकुमार !

मधूलिका ?—आश्चर्य से युवक ने कहा।

एक क्षण के लिए सन्नाटा छा गया। मधूलिका अपनी कल्पना को सहसा प्रत्यक्ष देखकर चकित हो गई—इतने दिनों के बाद आज फिर !

अरुण ने कहा—कितना समझाया मैंने—परन्तु......

मधूलिका अपनी दयनीय अवस्था पर संकेत करने देना नहीं चाहती थी। उसने कहा—और आज आपकी यह क्या दशा है ?

सिर झुका कर अरुण ने कहा—मैं मगध का विद्रोही निर्वासित कोशल में जीविका खोजने आया हूँ।

मधूलिका उस अन्धकार में हँस पड़ी—मगध के विद्रोही राजकुमार का स्वागत करे एक अनाथिनी कृषक-बालिका, यह भी एक विडम्बना है, तो भी मैं स्वागत के लिए प्रस्तुत हूँ।

\+ \+ \+

शीतकाल की निस्तब्ध रजनी, कुहरे से धुली हुई चाँदनी, हाड़ कँपा देने वाला समीर, तो भी अरुण और मधूलिका दोनों पहाड़ी गह्वर के द्वार पर वट वृक्ष के नीचे बैठे हुए बातें कर रहे हैं। मधूलिका की वाणी मे उत्साह था; किन्तु अरुण जैसे अत्यन्त सावधान होकर बोलता।

मधूलिका ने पूछा—जब तुम इतनी विपन्न अवस्था में हो, तो फिर इतने सैनिकों को साथ रखने की क्या आवश्यकता है?

मधूलिका! बाहुबल ही तो वीरो की आजीविका है। ये मेरे जीवन-मरण के साथी हैं। भला मैं इन्हें कैसे छोड़ देता? और करता ही क्या?

क्यों? हम लोग परिश्रम ने कमाते और खाते। अब तो तुम...।

भूल न करो, मैं अपने बाहुबल पर भरोसा करता हूँ। नये राज्य की स्थापना कर सकता हूँ, निराश क्यो हो जाऊँ?—अरुण के शब्दो में कम्पन था; वह जैसे कुछ कहना चाहता था; पर कह न सकता था।

नवीन राज्य! ओहो, तुम्हारा उत्साह तो कम नहीं। भला कैसे? कोई ढंग बताओ, तो मैं भी कल्पना का आनन्द ले लूँ।

कल्पना का आनन्द नहीं मधूलिका, मैं तुम्हें राजरानी के

सम्मान से सिंहासन पर बिठाऊँगा ! तुम अपने छिने हुए खेत की चिन्ता करके भयभीत न हो।

एक क्षण में सरल मधूलिका के मन में प्रमाद का अन्धड़ बहने लगा—द्वन्द्व मच गया। उसने सहसा कहा—आह, मैं सचमुच आज तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती थी, राजकुमार !

अरुण ढिठाई से उसके हाथों को दबा कर बोला—तो मेरा भ्रम था, तुम सचमुच मुझे प्यार करती हो ?

युवती का वक्षस्थल फूल उठा, हाँ भी नहीं कह सकी, न भी नहीं। अरुण ने उसकी अवस्था का अनुभव कर लिया। कुशल मनुष्य के समान उसने अवसर को हाथ से न जाने दिया। तुरन्त बोल उठा—तुम्हारी इच्छा हो तो प्राणों से पण लगाकर मैं तुम्हें इसी कोशल सिंहासन पर बिठा दूँ। मधूलिके ! अरुण के खड्ग का आतंक देखोगी ?—मधूलिका एक बार काँप उठी। वह कहना चाहती थी—नहीं; किन्तु उसके मुँह से निकला—क्या ?

सत्य मधूलिका, कोशल-नरेश तभी से तुम्हारे लिए चिन्तित हैं। यह मैं जानता हूँ, तुम्हारी साधारण-सी प्रार्थना वह अस्वीकार न करेंगे। और मुझे यह भी विदित है कि कोशल के सेनापति अधिकांश सैनिकों के साथ पहाड़ी दस्युओं का दमन करने के लिए बहुत दूर चले गये हैं।

मधूलिका की आँखों के आगे बिजलियाँ हँसने लगीं। दारुण भावना से उसका मस्तक विकृत हो उठा। अरुण ने कहा—तुम बोलती नहीं हो ?

जो कहोगे वही करूँगी—मंत्रमुग्ध-सी मधूलिका ने कहा।

+ + +

स्वर्णमंच पर कोशल नरेश अर्द्धनिद्रित अवस्था में आँखे मुकुलित किये हे। एक चामरधारिणी युवती पीछे खड़ी अपनी कलाई बड़ी कुशलता से घुमा रही है। चामर के शुभ्र आन्दोलन उस प्रकोष्ठ में धीरे-धीरे संचलित हो रहे हैं। ताम्बूल-वाहिनी प्रतिमा के समान दूर खड़ी है।

प्रतिहारी ने आकर कहा—जय हो देव! एक स्त्री कुछ प्रार्थना करने आई है।

आँख खोलते हुए महाराज ने कहा—स्त्री! प्रार्थना करने आई है? आने दो।

प्रतिहारी के साथ मधूलिका आई। उसने प्रणाम किया। महाराज ने स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा और कहा—तुम्हें कहीं देखा है।

तीन बरस हुए देव! मेरी भूमि खेती के लिए ली गई थी।

ओह, तो तुमने इतने दिन कष्ट में बिताये, आज उसका मूल्य माँगने आई हो, क्यों? अच्छा-अच्छा तुम्हें मिलेगा। प्रतिहारी!

नहीं महाराज, मुझे मूल्य नहीं चाहिए।

मूर्ख! फिर क्या चाहिए?

उतनी ही भूमि, दुर्ग के दक्षिण नाले के समीप की जंगली भूमि, वहीं मैं अपनी खेती करूँगी! मुझे एक सहायक मिल

गया है। वह मनुष्यों से मेरी सहायता करेगा, भूमि को समतल भी तो बनाना होगा।

महाराज ने कहा—कृषक-बालिके! वह बड़ी ऊबड़-खाबड़ भूमि है। तिस पर वह दुर्ग के समीप एक सैनिक महत्त्व रखती है।

तो फिर निराश लौट जाऊँ?

सिंहमित्र की कन्या! मैं क्या करूँ, तुम्हारी यह प्रार्थना··

देव! जैसी आज्ञा हो!

जाओ, तुम श्रमजीवियों को उसमें लगाओ। मैं अमात्य को आज्ञापत्र देने का आदेश करता हूँ।

जय हो देव!—कहकर प्रणाम करती हुई मधूलिका राज-मन्दिर के बाहर आई।

दुर्ग के दक्षिण भयावने नाले के तट पर घना जंगल है। आज वहाँ मनुष्यों के पद संचार से शून्यता भंग हो रही थी। अरुण के छिपे हुए मनुष्य स्वतन्त्रता से इधर-उधर घूमते थे। झाड़ियों को काट कर पथ बन रहा था। नगर दूर था, फिर उधर यों ही कोई नहीं आता था। फिर अब तो महाराज की आज्ञा से वहाँ मधूलिका का अच्छा-सा खेत बन रहा था। तब इधर की किसको चिन्ता होती?

एक घने कुञ्ज में अरुण और मधूलिका एक दूसरे को हर्षित नेत्रों से देख रहे थे। सन्ध्या हो चली थी। उस निविड़ वन में नवागत मनुष्यों को देख कर पक्षीगण अपने नीड़ को लौटते हुए अधिक कोलाहल कर रहे थे।

प्रसन्नता से अरुण की आँखें चमक उठीं। सूर्य की अन्तिम किरणें झुरमुट में घुसकर मधूलिका के कपोलों से खेलने लगीं। अरुण ने कहा—चार प्रहर और, विश्वास करो, प्रभात में ही इस जीर्ण कलेवर कोशल-राष्ट्र की राजधानी श्रावस्ती में तुम्हारा अभिषेक होगा। और मगध से निर्वासित मैं, एक स्वतन्त्र राष्ट्र का अधिपति बनूँगा, मधूलिके !

भयानक ! अरुण, तुम्हारा साहस देख मैं चकित हो रही हूँ। केवल सौ सैनिकों से तुम...

रात के तीसरे प्रहर मेरी विजय-यात्रा होगी।

तो तुमको इस विजय पर विश्वास है ?

अवश्य ! तुम अपनी झोंपड़ी में यह रात बिताओ, प्रभात से तो राज-मन्दिर ही तुम्हारा लीला-निकेतन बनेगा।

मधूलिका प्रसन्न थी; किन्तु अरुण के लिए उसकी कल्याण-कामना सशंक थी। वह कभी-कभी उद्विग्न-सी होकर बालकों के समान प्रश्न कर बैठती। अरुण उसका समाधान कर देता। सहसा कोई संकेत पाकर उसने कहा—अच्छा अन्धकार अधिक हो गया। अभी तुम्हें दूर जाना है और मुझे भी प्राण-पण से इस अभियान के प्रारम्भिक कार्यों को अर्धरात्रि तक पूरा कर लेना चाहिए, तब रात्रि भर के लिए विदा मधूलिके !

मधूलिका उठ खड़ी हुई। कँटीली झाड़ियों से उलझती हुई, क्रम से बढ़ने वाले अन्धकार में, वह अपनी झोपड़ी की ओर चली।

× × × ×

पथ अन्धकारमय था और मधूलिका का हृदय भी निविड़ तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा, मधुरता नष्ट हो गई। जितनी सुख-कल्पना थी, वह जैसे अन्धकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी, यदि वह सफल न हुआ तो? फिर सहसा सोचने लगी—वह क्यों सफल हो? श्रावस्ती-दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाय? मगध कोशल का चिर-शत्रु! ओह, उसकी विजय! कोशल-नरेश ने क्या कहा था—'सिंहमित्र की कन्या'। सिंहमित्र कोशल का रक्षक वीर, उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है? नहीं, नहीं। 'मधूलिका! मधूलिका!!' जैसे उसके पिता उस अन्धकार में पुकार रहे थे। वह पगली की तरह चिल्ला उठी। रास्ता भूल गई।

रात एक पहर बीत चली, पर मधूलिका अपनी झोंपड़ी तक न पहुँची। वह उधेड़बुन में विक्षिप्त-सी चली जा रही थी। उसकी आँखों के सामने कभी सिंहमित्र और कभी अरुण की मूर्त्ति अन्धकार में चित्रित हो जाती। उसे सामने आलोक दिखाई पड़ा। वह बीच पथ में खड़ी हो गई। प्रायः एक सौ उल्काधारी अश्वारोही चले आ रहे थे और आगे-आगे एक वीर अधेड़ सैनिक था। उसके बायें हाथ में थी। अश्व की वल्गा और दाहिने हाथ में नग्न खड्ग। अत्यन्त धीरता से वह टुकड़ी अपने पथ पर चल रही थी। परन्तु मधूलिका बीच पथ से हिली नहीं। प्रमुख सैनिक पास आ गया; मधूलिका अब भी नहीं हटी। सैनिक ने अश्व रोक कर कहा—कौन? कोई उत्तर नहीं मिला।

तब तक दूसरे अश्वारोही ने कड़क कर कहा—तू कौन है स्त्री ? कोशल के सेनापति को उत्तर शीघ्र दे।

रमणी जैसे विकार-ग्रस्त स्वर में चिल्ला उठी—बाँध लो, मुझे बाँध लो ! मेरी हत्या करो। मैंने अपराध ही ऐसा किया है।

सेनापति हँस पड़े, बोले—पगली है।

पगली नहीं; यदि यही होती, तो इतनी विचार-वेदना क्यों होती ! सेनापति, मुझे बाँध लो। राजा के पास ले चलो।

क्या है ? स्पष्ट कह !

श्रावस्ती का दुर्ग एक प्रहर में दस्युओं के हस्तगत हो जायगा। दक्षिणी नाले के पार उनका आक्रमण होगा !

सेनापति चौंक उठे। उन्होंने आश्चर्य से पूछा—तू क्या कह रही है ?

मैं सत्य कह रही हूँ, शीघ्रता करो।

सेनापति ने अस्सी सैनिकों को नाले की ओर धीरे-धीरे बढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं बीस अश्वारोहियो के साथ दुर्ग की ओर बढ़े। मधूलिका एक अश्वारोही के साथ बाँध दी गई।

\+ \+ \+

श्रावस्ती का दुर्ग, कोशल राष्ट्र का केन्द्र, इस रात्रि में अपने विगत वैभव का स्वप्न देख रहा था। भिन्न राजवंशों ने उसके प्रान्तों पर अधिकार जमा लिया है। अब वह केवल कई गाँवो का अधिपति है। फिर भी उसके साथ कोशल के अतीत की स्वर्ण-गाथाएँ लिपटी हैं। वही लोगों की ईर्षा का कारण है। जब थोड़े से अश्वारोही बड़े वेग से आते हुए दुर्ग-द्वार पर रुके तब

दुर्ग के प्रहरी चौंक उठे। उल्का के आलोक में उन्होंने सेनापति को पहचाना, द्वार खुला। सेनापति घोड़े की पीठ से उतरे। उन्होंने कहा—अग्निसेन! दुर्ग में कितने सैनिक होंगे?

सेनापति की जय हो! दो सौ।

उन्हें शीघ्र एकत्र करो; परन्तु बिना किसी शब्द के। १०० को लेकर तुम शीघ्र ही चुपचाप दुर्ग के दक्षिण की ओर चलो। आलोक और शब्द न हो।

सेनापति ने मधूलिका की ओर देखा। वह खोल दी गई। उसे अपने पीछे आने का संकेत कर सेनापति राजमन्दिर की ओर बढ़े। प्रतिहारी ने सेनापति को देखते ही महाराज को सावधान किया। वे अपनी सुख-निद्रा के लिए प्रस्तुत हो रहे थे; किन्तु सेनापति और साथ में मधूलिका को देखते ही चंचल हो उठे। सेनापति ने कहा—जय हो देव! इस स्त्री के कारण मुझे इस समय उपस्थित होना पड़ा है।

महाराज ने स्थिर नेत्रों से देख कर कहा—सिंहमित्र की कन्या, फिर यहाँ क्यों?—क्या तुम्हारा क्षेत्र नहीं बन रहा है? कोई बाधा? सेनापति! मैंने दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की भूमि इसे दी है। क्या उसी सम्बन्ध में तुम कहना चाहते हो?

देव! किसी गुप्त शत्रु ने उसी ओर से आज की रात में दुर्ग पर अधिकार कर लेने का प्रबन्ध किया है और इसी स्त्री ने मुझे पथ में यह सन्देश दिया है।

राजा ने मधूलिका की ओर देखा। वह काँप उठी। घृणा

और लज्जा से वह गड़ी जा रही थी। राजा ने पूछा—मधूलिका, यह सत्य है ?

हाँ, देव !

राजा ने सेनापति से कहा—सैनिकों को एकत्र करके तुम चलो, मैं अभी आता हूँ। सेनापति के चले जाने पर राजा ने कहा—सिंहमित्र की कन्या ! तुमने एक बार फिर कोशल का उपकार किया। यह सूचना देकर तुमने पुरस्कार का काम किया है। अच्छा, तुम यहीं ठहरो। पहले उन आततायियों का प्रबन्ध कर लूँ।

× + ×

अपने साहसिक अभियान में अरुण बन्दी हुआ और दुर्ग उल्का के आलोक में अतिरञ्जित हो गया। भीड़ ने जयघोष किया। सबके मन में उल्लास था। श्रावस्ती-दुर्ग आज एक दस्यु के हाथ में जाने से बचा। आबाल-वृद्ध-नारी आनन्द से उन्मत्त हो उठे।

उषा के आलोक में सभा मण्डप दर्शकों से भर गया। बन्दी अरुण को देखते ही जनता ने रोष से हुङ्कार करते हुए कहा—'बध करो !' राजा ने सब से सहमत होकर आज्ञा दी—'प्राण-दण्ड।' मधूलिका, बुलाई गई। वह पगली-सी आकर खड़ी हो गई। कोशल-नरेश ने पूछा—मधूलिका, तुझे जो पुरस्कार लेना हो, माँग। वह चुप रही।

राजा ने कहा—मेरी निज की जितनी खेती है, मैं सब तुझे देता हूँ। मधूलिका ने एक बार बन्दी अरुण की ओर देखा।

उसने कहा मुझे कुछ न चाहिए। अरुण हँस पड़ा। राजा ने कहा—नहीं, मैं तुझे अवश्य दूँगा। माँग ले।

तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले—कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।

नास्तिक प्रोफेसर

(श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक)

१

प्रोफेसर कुञ्जबिहारी एम० ए० बिगड़ कर बोले—"यह सब वाहियात बातें हैं ईश्वर फीश्वर कुछ नहीं, सब ढकोसला है। हम लोग बहुत समय से विश्वास करने के अभ्यस्त हो रहे हैं। इस कारण हमारा हृदय ईश्वर की ओर झुकता है; अन्यथा हमारे पास ईश्वर के होने का कोई प्रमाण नहीं।"

प्रोफेसर साहब के मित्र पंडित अयोध्याप्रसाद बी० ए० मुसकरा कर बोले—"तुम्हारे बाप दादे तो गोबर का ढेर पूजते-पूजते मर गये, और अब तुम ईश्वर पर भी विश्वास नहीं करते।" प्रोफेसर साहिब कुछ झेंप कर बोले—"क्यों साहब! इस गोबर के ढेर आपका क्या तात्पर्य है ?"

अयोध्याप्रसाद हँस कर बोले—"यहाँ आप शहर में हैट लगा कर नई सभ्यता की खराद पर चढ़ गये हैं, परन्तु आपके शरीर में खून देहाती ही है—यह तो कम-से-कम आपको मानना ही पड़ेगा।"

प्रोफेसर साहब कुछ उत्तेजित होकर बोले—"तो इससे आपका क्या मतलब ? आखिर आप देहातियों से इतनी घृणा क्यों करते हैं ? देहाती क्या मनुष्य·····"

"आप इतने नाराज़ न हों। मैं देहातियों से इतनी घृणा नहीं

करता, मैं उन से प्रेम करता हूँ, परन्तु उन देहातियों से, जो अपना देहातीपन छिपाने की चेष्टा नहीं करते; जिन्हें अपने देहातीपन पर गर्व है। परन्तु जो लोग कोट, पैंट तथा हैट की आड़ में अपना देहातीपन छिपाकर ठेठ पेरिस के निवासी बनना चाहते हैं, जो अपना देहातीपन प्रकट करते हुए झेंपते हैं उनसे मैं अवश्य घृणा करता हूँ।"

"खैर अपनी-अपनी समझ और अपने अपने विचार हैं। कोई इसे ठीक समझता है, कोई नहीं। मनुष्य उन्नतिशील प्राणी है। मनुष्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि जब नीची अवस्था से ऊँची अवस्था पर पहुँच जाय, तब भी अपनी नीची ही अवस्था को प्रकट करने में गर्व समझे। यह तो निरा पागलपन है।"

"निस्सन्देह, परन्तु यह पागलपन उस दशा में हो सकता है, जब जिसे वह वह नीची अवस्था समझता हो, वह वास्तव में नीची अवस्था हो।"

"यह अपनी अपनी रुचि है। हाँ, तो आपने गोबर के ढेर पूजने वाली बात का उत्तर नहीं दिया।"

अयोध्याप्रसाद उच्च हास्य करके बोले—"वाह! यह खूब रही! इतनी बातें हो गईं और आपको अभी अपनी बात का उत्तर नहीं मिला। आपको यह मालूम ही है कि देहातों में गोबर और मिट्टी की मूर्तियाँ पूजने का बहुत चलन है।"

प्रोफेसर साहब अयोध्याप्रसाद की बात का मर्म समझ कर बोले—"आप तो हैं बौड़म! बी० ए० तक पढ़ कर भी आपको

जरा तमीज न आई। आप ही जैसे लोग ही पढ़े-लिखे मूर्ख कहलाते है। जो वस्तु हमारा कुछ बना बिगाड़ नहीं सकती उसका अस्तित्व यदि हम न भी मानें, तो इसमें कोई हानि नहीं। ईश्वर हमारा कुछ बना बिगाड़ नहीं सकता, इस कारण वह न होने के तुल्य ही है।"

"तर्क से तो ईश्वर का अस्तित्व कभी प्रमाणित हो ही नहीं सकता।"

"तो फिर काहे से प्रमाणित हो सकता है ?"

"केवल अनुभव से।"

"यह आपकी लचर दलील है।"

"आप ऐसा ही समझें।"

अयोध्याप्रसाद की इस बात से प्रोफेसर साहब ने उनको अपनी बात का उत्तर देने में असमर्थ समझा। इस कारण प्रसन्न-मुख होकर बोले—"इसी से तो कहता हूँ कि तुम लोगों को कोरी बात ही बनानी आती है। प्रमाण-प्रमाण तुम लोगों के पास खाक भी नहीं है। आज कल वह समय नहीं रहा, जब 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' पर लोगों का विश्वास था। अब तो जिस बात का प्रमाण प्रत्यक्ष हो, वही ठीक समझी जाती है। (मुसकरा-कर) जौनी बात का हमरे पास प्रमाण होई, तौनी तौ हम मानब दादा, और जौनी का न होई, तौन न मानब, चाहै ब्रह्मै काहे न कहैं।" अयोध्याप्रसाद मुसकरा कर बोले—"देखिए-देखिए, आप का देहातीपन फिर जोर पकड़ रहा है इसे जरा सँभालिए। इस हैट और कोट की सारी शान मिट्टी में मिली जा रही है।"

प्रोफेसर साहब कुछ लज्जित हो कर बोले—"देहाती तो भाई हम हैं ही, इसमें सन्देह ही क्या है ? और, हमारी मातृ-भाषा भी देहाती ही है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम हैट-कोट पहनें ही न।"

२

प्रोफेसर कुंजबिहारी की अर्द्धाङ्गिनी सुखदेई बड़ी धार्मिक है। पूजा-पाठ इत्यादि में उसकी बड़ी रुचि है। नित्य प्रातःकाल दो तीन घंटे पूजा-पाठ करती है। प्रोफेसर साहब को उसकी यह धार्मिकता एक आँख नहीं भाती। वे इसे केवल ढोंग समझते हैं। कई बार प्रोफेसर साहब ने स्त्री के कार्य का घोर प्रतिवाद किया परन्तु अर्द्धाङ्गिनी ने उनकी एक न मानी, और अपना कार्य करती रही। उक्त घटना के कुछ दिनों बाद एका-एक प्रोफेसर साहब का एक पुत्र जिसकी आयु तीन वर्ष के लगभग थी, बीमार हो गया। प्रोफेसर साहब डाक्टरी चिकित्सा करने लगे।

दूसरे दिन प्रातःकाल सुखदेई ने पति से कहा—"तुम ज़रा राधे (लड़के का नाम) को थोड़ी देर अपने पास रख लो, मैं पूजा कर लूँ।"

प्रोफेसर साहब बिगड़ कर बोले—"चूल्हे में गई तुम्हारी पूजा ! क्या होगा पूजा करने से ?"

सुखदेई के हृदय में पति के ये वाक्य बाण-से लगे, परन्तु वह उसी प्रकार गंभीरता-पूर्वक बोली—"मेरा यह नित्य का नेम (नियम) है; मैं इसे तोड़ना अच्छा नहीं समझती। थोड़ी देर की तो बात ही है, इसे लिये रहो।"

सुखदेई यह कहकर और पति के उत्तर की प्रतीक्षा न करके राधे को प्रोफेसर साहब की गोद में देकर चली गई।

प्रोफेसर साहब कुढ़कर मन ही मन बोले—"मूर्खा स्त्रियों से इसके सिवा और आशा ही क्या की जा सकती है ? जब देखो, तब पूजा-पाठ ! न-जाने इससे लोगों को क्या मिलता है ? एक कल्पित नाम के पीछे सारा संसार मिटा जा रहा है। आज तक किसी ने ईश्वर की झलक तक नहीं देखी; परन्तु फिर भी, इस अंध-विश्वास का पीछा नहीं छोड़ते। मैं शीघ्र ही इस विषय पर एक पुस्तक लिखूँगा और उस में ईश्वरवादियों को इतना फटकारूँगा कि वे याद करेंगे।"

इसके बाद जब प्रोफेसर साहब का क्रोध शांत हुआ; तब उनका ध्यान राधे के सिर की ओर गया। सिर की ओर कुछ देर तक ताकते रहकर वे सोचने लगे—प्रकृति भी कैसी बुद्धिमती है। उसने मनुष्य का सिर गोल बनाया है; चौखूँटा नहीं बनाया, कारण; उसे यह मालूम था कि एक तो सिर चौखूँटा होने से देखने में बुरा मालूम होगा, दूसरे लेटने और करवट बदलने में प्राणियों को कष्ट होगा !

प्रोफेसर साहब इसी तरह की बातें सोचते रहे। कभी बालों के बारे में सोचते थे कि प्रकृति ने मनुष्य के सिर पर इतने बाल क्यों उत्पन्न किये ? इसी प्रकार एक घंटा बीत गया। एक घंटे के बाद सुखदेई ने पूजा-पाठ से छुट्टी पाई और प्रोफेसर साहब राधे को सुखदेई की गोद में देकर बोले—"तुम्हें तो अपनी पूजा-पाठ की पड़ी रहती है। लड़के की कोई फिक्र नहीं। तुम्हें

मालूम रहना चाहिए कि हमारे लिए पूजा-पाठ से अधिक मूल्य-वान राधे है; इस लिए अब इसी का पूजा-पाठ किया करो।"

सुखदेई गम्भीर होकर बोली—"मैं इसी का पूजा-पाठ करती हूँ।"

प्रोफेसर ने ताने के तौर पर कहा—"तो इस समय भी शायद तुमने इसी की पूजा की है?"

सुखदेई—"इसकी नहीं की पर इसी के लिए की है।"

प्रोफेसर—"इस पूजा से क्या होगा?"

सु०—"ईश्वर इसे अच्छा कर देगा।"

प्रोफेसर—(घृणा से हँसकर) "तो ईश्वर, तुम्हारे कहने में है?"

सु०—"कहने में वे किसी के नहीं हैं। पर जो उनका ध्यान हृदय से करते हैं, उन पर वे अवश्य दया करते हैं।"

प्रो०—ईश्वर है क्या चीज़, तुम्हें यह मालूम है, या खाली ईश्वर का नाम ही सुन लिया है?"

सु०—"खाली नाम ही नहीं सुना, मुझे उन पर विश्वास है।"

प्रोफेसर—"मिथ्या बातों पर भी लोगों का विश्वास जम सकता है।"

यह कहकर प्रोफेसर साहब सुखदेई के पास से चले गये।

३

राधे की दशा प्रतिदिन बिगड़ने लगी। प्रोफेसर साहब ने यथाशक्ति चिकित्सा कराई; पर कोई अच्छे लक्षण न दिखाई

दिये। जैसे-जैसे राधे की दशा बिगढ़ने लगी, वैसे-वैसे प्रोफेसर साहब सुखदेई की ईश्वराराधना से अधिक असंतुष्ट रहने लगे। एक दिन उन्होंने सुखदेई से स्पष्ट कहा—"तुम्हारी लापरवाही से लड़के की दशा बिगड़ती जाती है और तुम अंधविश्वास के फेर में पड़ी हुई हो। तुम दवा-दारु की कुछ परवाह नहीं करतीं, नियम से दवा नहीं खिलातीं। याद रक्खो, जो राधे को कुछ हो गया, तो इसकी जिम्मेदारी तुम पर होगी।"

सुखदेई—"मुझे दवाओं पर उतना विश्वास नहीं, जितना ईश्वर की दया और शक्ति पर है!"

अर्द्धांगिनी के इस उत्तर से प्रोफेसर साहब आग हो गये। मारे क्रोध के उनका मुँह लाल हो गया। वह कर्कश स्वर में बोले—"भाड़ में गया तुम्हारा ईश्वर और उसकी शक्ति। दवाएँ जो प्रत्यक्ष फल दिखाती हैं, उन पर तुम्हें विश्वास नहीं, और साढ़े तीन अक्षरों के शब्द पर इतना विश्वास है? मैं आज तुम्हारे इस अंध-विश्वास को अवश्य दूर करूँगा।"

यह कह कर प्रोफेसर साहब लपकते हुए सुखदेई के पूजा-गृह में गये, उन्होने सुखदेई की पूजन-सामग्री तथा मूर्तियाँ उठा-कर इधर-उधर फेंक दीं, और उसी प्रकार तावपेच खाते हुए लौटकर सुखदेई से बोले—"देखूँ, अब ये तुम्हारी मूर्तियाँ और ईश्वर मेरा क्या लेता है?"

पति के इस कार्य को देखकर सुखदेई का चेहरा पीला पड़ गया। उसकी आँखों से अश्रु-धारा फूट निकली। वह पति की ओर दोनों हाथ फैला कर रोते हुए बोली—"हाय, यह तुमने

क्या किया! तुमने मेरा सारा परिश्रम मिट्टी में मिला दिया। अभी तक मुझे पूरी आशा थी, पर अब मेरी सारी आशा टूट गई। थोड़ी देर पहले जिस बात का उत्तर-दायित्व तुम मुझ पर डाल रहे थे, इस कार्य के करने से अब तुम आप उसके उत्तर-दाता बन गये। हाय ईश्वर! अब क्या होगा...।"

४

रात के आठ बजे हैं। राधे बेहोशी की दशा में पलग पर पड़ा हुआ है। पलँग के एक ओर सुखदेई तथा दूसरी ओर प्रोफेसर साहब बैठे हैं। प्रोफेसर साहब के मुख पर चिंता तथा दुख के भाव स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहे हैं। सुखदेई के मुख पर गंभीरता है, परन्तु उस गंभीरता के नीचे हार्दिक वेदना, भय तथा चिन्ता की झलक फूट निकलने की चेष्टा कर रही है। डाक्टरों ने आज की रात राधे के लिए कठिन बतलाई है। उन्होंने साफ-साफ कह दिया है कि आज रात को राधे का बचना अत्यन्त कठिन है, परन्तु जो आज की रात सकुशल बीत गई, तो फिर यह अमर है। प्रोफेसर साहब क्षण-क्षण पर राधे की नाड़ी देखते हैं, नाड़ी देखने पर कभी उनका चेहरा खिल उठता और कभी मुरझा जाता है। सुखदेई चुपचाप बैठी है। उसकी दृष्टि केवल राधे के मुख की ओर है। प्रोफेसर साहब बार-बार घड़ी की ओर देखते हैं। उन्हें आज घड़ी की सुइयों की चाल बहुत धीमी जान पड़ती है। कभी कभी तो उन्हें घड़ी के बन्द हो जाने का भ्रम हो जाता है। जितनी देर में वे एक घंटा बीतने की आशा करते हैं, उतनी देर में केवल बीस-पचीस मिनट बीतते हैं।

इसी तरह तीन घंटे व्यतीत हुए। ग्यारह बजे के करीब प्रोफ़े-सर साहब ने फिर नाड़ी देखी। नाड़ी देखते ही उनका चेहरा खिल उठा। वह सुखदेई से बोले—"यदि नाड़ी ऐसी ही रही, तो कोई खटके की बात नहीं। दवा की एक मात्रा और पिलानी चाहिए, समय हो गया।"

सुखदेई ने कुछ लापरवाही से उत्तर दिया—"पिला दो।"

प्रोफ़ेसर साहब सुखदेई की लापरवाही को समझकर बोले—"तुम्हें तो दवा पर विश्वास आ ही नहीं सकता। यह तुम्हारा अपराध नहीं, तुम्हारे अज्ञान तथा तुम्हारी अशिक्षा का अप-राध है।"

यह कहकर प्रोफ़ेसर साहब ने दवा की शीशी उठाई, और सुखदेई से बोले—"देखो, इस समय हमारा ईश्वर यह दवा है। नियम-पूर्वक पिलाओ, यह अपना गुण दिखावेगी। यदि इसका निरादर करोगी, इसे नियम-पूर्वक न दोगी, तो यह कोई फल न दिखलावेगी।"

सुखदेई ने पति के ऊपर एक तीक्ष्ण दृष्टि डाली। उस दृष्टि में वह भाव था, जो एक बुद्धिमान आदमी की दृष्टि में उस समय होता है, जब वह एक मूर्ख आदमी को बढ़-बढ़ कर बातें मारते हुए देखता है। प्रोफ़ेसर साहब पर उस दृष्टि का प्रभाव भी वैसा ही पड़ा। उस दृष्टि की तीक्ष्णता को वे सह न सके। वे आगे और भी कुछ कहना चाहते थे; पर कह न सके। इच्छा न रहने पर भी उन्हें अपनी बात पर कुछ लज्जा सी मालूम हुई। सुखदेई ने चुपचाप अपनी दृष्टि नीची

कर ली। और फिर वह उसी प्रकार राधे के मुख की ओर देखने लगी।

प्रोफेसर साहब ने दवा पिला दी, और वे फिर अपने स्थान पर बैठ गये।

एक घंटे तक दोनों चुपचाप बैठे रहे। बीच-बीच में प्रोफेसर साहब नाड़ी देख लेते थे।

बारह बजने के कुछ मिनट पहले प्रोफेसर साहब ने फिर नाड़ी देखी। नाड़ी देखते ही उनके चेहरे का रंग उड़ गया। वे घबराकर सुखदेई से बोले—"इस समय तो नाड़ी बहुत गिरी हुई मालूम होती है।" यह कहकर वे शीघ्रता-पूर्वक उठे, और उन्होंने फिर दवा की एक मात्रा पिलाई। परन्तु दवा गले के नीचे न उतरी। प्रोफेसर साहब घबरा गये। हृदय और आँखों ने अपना काम एक साथ किया। हृदय से एक साँस निकली और आँखों से अश्रुधारा बह चली। उन्होंने शीशी पटक दी और राधे के मुख पर अपना मुख रख कर बच्चों की तरह रोने लगे। सुखदेई की आँखों से आँसू बहने लगे।

प्रोफेसर साहब रोते हुए सुखदेई से बोले—"हाय! अब क्या करें? कोई उपाय नहीं सूझ पड़ता!" सुखदेई आँसू पोंछती हुई बोली—"तुमने अपने सारे उपाय कर लिये परन्तु मेरे उपाय की जड़ तुमने पहले ही काट दी। अब मैं क्या करूँ?" प्रोफेसर साहब कुछ देर तक रोते रहे। फिर आँसू पोंछ कर बोले—"अब वह तुम्हारा ईश्वर कहाँ है? उसे क्यों नहीं बुलातीं? आखिर वह कब काम आवेगा।"

सुखदेई—"मैं उसे किस मुँह से बुलाऊँ, उसे किस मुँह से पुकारूँ? तुमने मेरे उपास्य देव का जो अपमान किया है, उसको देखते हुए मुझ में शक्ति नहीं कि उनसे सहायता माँगूँ।"

प्रोफेसर—"हुँह! अपमान! मानो वे मूर्तियाँ भी कोई मनुष्य थीं!"

सुखदेई—"देखो, मैं तुमसे प्रार्थना करती हूँ कि अब उनके विषय में कोई कटु वाक्य न निकालना।"

प्रोफेसर साहब चुप हो गये। उन्होंने फिर राधे की नाड़ी पर हाथ रक्खा, पर हाथ रखते ही वे चिल्ला उठे—"लो राधे की माँ, अब यह कुछ ही देर का मेहमान है। (फिर रोकर) बोलो, अब क्या उपाय किया जाय?"

सुखदेई उठकर खड़ी हो गई। उसके मुख पर एक दिव्य ज्योति का प्रादुर्भाव हुआ। बोली—"एक बार चेष्टा करती हूँ, तुम भी चेष्टा करो। झुको, घुटने टेक दो।"

प्रोफेसर साहब सुखदेई के मुख की ज्योति देखकर स्तंभित हो गये। इस समय उन्होंने अपने को सुखदेई के सामने वैसा ही समझा, जैसे एक बालक अपने को गुरु से सामने समझता है, अथवा नौकर अपने को मालिक के सामने। उन्हें सुखदेई की आज्ञा टालने का साहस न हुआ। तुरन्त घुटने टेककर बैठ गये।

सुखदेई बोली—"ध्यान करो, ईश्वर को सर्वशक्तिमान समझते हुए सच्चे हृदय से उसका ध्यान करो। अपने पिछले कामों के लिए सच्चे जी से पश्चात्ताप करो। अब केवल यही उपाय है।"

प्रोफेसर साहब ने आँखें बन्द कर लीं। उनके मुख से केवल इतना निकला—"ईश्वर !..........।" और वह उसी अवस्था में समाधिस्थ से हो गये।

५

अयोध्याप्रसाद शाम को घूमकर अपने निवास-स्थान पर लौटे। कमरे में पहुँचते ही उन्होंने मेज पर एक पत्र पड़ा हुआ देखा। पत्र खोला। उसमें लिखा था—

"प्रियवर अयोध्याप्रसाद,

तुम तो बनारस में ऐसे रम गये कि अभी तक लौटने का नाम ही न लिया। कब तक लौटने का विचार है? अब तुम्हारा स्वास्थ्य कैसा है? ईश्वर करे, पहले से अच्छा ही हो। चौंको मत; मैं अब ईश्वरवादी हो गया हूँ। तुम्हारे कथनानुसार किसी तर्क से नहीं, वरन् अनुभव से। मिलने पर वृत्तान्त कहूँगा। राधे को आज पथ्य दिया गया है। यदि तुम्हारा स्वास्थ्य पहले से ठीक हो, तो चले आओ।

तुम्हारा स्नेहास्पद

कुंजबिहारी"

अयोध्याप्रसाद ने मुसकराकर पत्र मेज पर रख दिया और आप ही आप बोले—"इस कट्टर नास्तिक को ऐसा कौन सा अनुभव हुआ जिसने इसे आस्तिक बना दिया।"

खूनी

(श्री चतुरसेन शास्त्री)

उसका नाम मत पूछिये। आज दस वर्ष से उस नाम को हृदय से और उस सूरत को आँखो से दूर करने को पागल हुआ फिरता हूँ। पर वह नाम और सूरत सदा मेरे साथ है। मैं डरता हूँ, वह निडर है; मैं रोता हूँ, वह हँसता है; मैं मर जाऊँगा, वह अमर है।

मेरी उसकी कभी की जान-पहिचान न थी। दिल्ली में हमारी गुप्त सभा थी, सब दल के आदमी आये थे, वह भी आया था। मेरा उसकी ओर कुछ ध्यान न था, वह पास ही खड़ा एक कुत्ते के पिल्ले से किलोल कर रहा था। हमारे दल के नायक ने मेरे पास आकर सहज-गम्भीर स्वर में धीरे से कहा—"इस युवक को अच्छी तरह पहचान लो, इससे तुम्हारा काम पड़ेगा।"

नायक चले गये और मैं युवक की तरफ झुका। मैंने समझा शायद नायक हम दोनों को कोई एक काम सुपुर्द करेगा।

मैंने युवक से हँसकर कहा—"कैसा प्यारा जानवर है!" युवक ने कच्चे दूध के समान स्वच्छ आँखें मेरे मुख पर डाल कर कहा—"काश! मैं इसका सहोदर भाई होता!" मैं ठठाकर हँस पड़ा। वह मुसकराकर रह गया। कुछ बातें हुईं। उसी दिन वह मेरा मित्र बन गया।

दिन पर दिन व्यतीत हुए। अछूते प्यार की धाराएँ दोनों हृदयों में उमड़कर एक-धार हो गईं, सरल अकपट व्यवहार पर दोनों मुग्ध हो गये। वह मुझे अपने गाँव में ले गया; किसी तरह न माना। गाँव के एक किनारे स्वच्छ अट्टालिका थी। वह गाँव के जमींदार का बेटा था—इकलौता बेटा, था, हृदय और सूरत का एक-सा। उसकी माँ ने दो दिन में ही मुझे 'बेटा' कहना शुरू किया। अपने होश के दिनों में मैंने वहाँ सात दिन माता का स्नेह पाया। फिर चला आया। फिर गया और आया। अब तो बिना उसके मन न लगता था। दोनों के प्राण दोनों में अटक रहे थे। एक दिन उन्मत्त प्रेम के आवेश में उसने कहा था—"किसी अघट घटना से जो हम दोनों में से एक स्त्री बन जाय तो मैं तो तुम से व्याह ही कर लूँ।"

नायक से कई बार पूछा—"क्यों तुमने मुझे उससे मित्रता करने को कहा था?" वह सदा यही कहते—"समय पर जानोगे।" गुप्त सभा की भयङ्कर गम्भीरता सब लोग नहीं जान सकते। नायक मूर्त्तिमान भयङ्कर गम्भीरता थे।

उस दिन भोजन के वाद उसका पत्र मिला। वह मेरी पॉकेट में अब भी धरा है। पर किसी को दिखाऊँगा नहीं। उसे देख-कर दो साँस सुख से ले लेता हूँ, आँसू बहाकर हलका हो जाता हूँ। किसी पुराने रोगी की जैसे दवा खूराक बन जाती है, मेरी वेदना की भी वह चिट्ठी खूराक बन गई है।

चिट्ठी पढ़ भी न पाया था, नायक ने बुलाया। मैं सामने जाकर सरल स्वभाव से खड़ा हो गया। बारहों प्रधान हाजिर थे।

सन्नाटा भीषण सत्य की तसवीर खींच रहा था। एक ही मिनट में मैं गम्भीर और दृढ़ हो गया। नायक की मर्म-भेदिनी दृष्टि मेरे नेत्रों में पड़ गई, जैसे तप्त लोहे के तीर आँख में घुस गये हों? मैं पलक मारना भूल गया, मानो नेत्रों में आग लग गई हो पाँच मिनट बीत गये। नायक ने गम्भीर वाणी से कहा—"सावधान! क्या तुम तैयार हो?"

मैं सचमुच तैयार था। मैं चौंका नहीं। आखिर मैं उसी सभा का परीक्षार्थी सभ्य था। मैंने नियमानुसार सिर झुका दिया। गीता की रक्तवर्ण रेशमी पोथी धीरे से मेज पर रख दी गई। नियमपूर्वक मैंने दोनों हाथों से उठाकर सिर पर चढ़ा ली।

नायक ने मेरे हाथ से पुस्तक ले ली। क्षण-भर सन्नाटा रहा। नायक ने एकाएक उसका नाम लिया और क्षण-भर में छः नली पिस्तौल मेज पर रख दी।

वह छः अक्षरों का नाम उस पिस्तौल की छओं गोलियों की तरह मस्तक में घुस गया। पर मैं कम्पित नहीं हुआ। प्रश्न करने और कारण पूछने का निषेध था। नियमपूर्वक मैंने पिस्तौल उठाकर छाती पर रखी और स्थान से हटा।

तत्क्षण मैंने यात्रा की। वह स्टेशन पर हाजिर था। अपने पत्र और मेरे प्रेम-पत्र पर इतना भरोसा उसे था; देखते ही लिपट गया। घर गये, चार दिन रहे। वह क्या करता है, क्या कहता है, मैं देख-सुन नहीं सकता था। शरीर सुन्न हो गया था, आत्मा दृढ़ थी। हृदय धड़क रहा था, विचार स्थिर थे।

चौथे दिन प्रातःकाल जलपान करके हम स्टेशन चले। ताँगा

नहीं लिया, जंगल में घूमते-घूमते जाने का विचार था। काव्यों की वढ़-बढ़कर आलोचना होती चलती थी। उस मस्ती में वह मेरे मन की उद्विग्नता भी न देख सका। धूप और खिली। पसीने बह चले। मैंने कहा—"चलो कहीं छाँह में वैठें।" घना कुञ्ज सामने था, वहीं गये। बैठते ही जेव से दो अमरूद निकालकर उसने कहा—"सिर्फ दो ही पके थे। घर के वगीचे के हैं। यहीं बैठकर खाने के लिए लाया हूँ। एक तुम्हारा एक मेरा।"

मैंने चुपचाप अमरूद लिया और खाया। एकाएक मैं उठ खड़ा हुआ। वह आधा अमरूद खा चुका था, उसका ध्यान उसी के स्वाद में था। मैंने धीरे-से पिस्तौल निकाली, घोड़ा चढ़ा था और अकम्पित स्वर में उसका नाम लेकर कहा—"अमरूद फेंक दो और भगवान का नाम लो, मैं तुम्हें गोली मारता हूँ।"

उसे विश्वास न हुआ। उसने कहा—"वहुत ठीक, पर इसे खा तो लेने दो।" मेरा धैर्य छूट रहा था मैंने दवे कण्ठ से कहा—"अच्छा, खा लो।" खाकर वह खड़ा हो गया, सीधा तनकर। फिर उसने कहा—"अच्छा मारो गली?" मैंने कहा, हँसी मत समझो, मैं तुम्हें गोली ही मारता हूँ, भगवान का नाम लो।" उसने हँसी में ही भगवान का नाम लिया और फिर वह नकली गम्भीरता से खड़ा हो गया। मैंने एक हाथ से अपनी छाती दवाकर कहा—"ईश्वर की सौगन्ध! हँसी मत समझो, मैं तुम्हें गोली मारता हूँ!"

मेरी आँखों से वही कच्चे दूध के समान स्वच्छ आँखें मिलाकर उसने कहा—"मारो।"

एक क्षण-भर भी विलम्ब करने से मैं कर्तव्य-विमुख हो जाता। पल-पल में साहस डूब रहा था। दनादन दो शब्द गूँज उठे। वह कटे वृक्ष की तरह गिर पड़ा। दोनों गोलियाँ छाती को पार कर गईं।

मैं भागा नहीं। भय से इधर-उधर मैंने देखा भी नहीं। रोया भी नहीं। मैंने उसे गोद में उठाया। मुँह की धूल पोंछी, रक्त साफ किया। आँखों में इतनी ही देर में कुछ-का-कुछ हो गया था। देर तक लिये बैठा रहा, जैसे माँ सोते बच्चे को—जागने के भय से—लिये निश्चल बैठी रहती है।

मैं उठा। ईंधन चुना, चिता बनाई और जलाई। अन्त तक बैठा रहा।

\+ \+ \+

बारहों प्रधान हाजिर थे। उसी स्थान पर जाकर मैं खड़ा हुआ। नायक ने नीरव हाथ बढ़ाकर पिस्तौल माँगी। पिस्तौल दे दी। कार्यसिद्धि का संकेत सम्पूर्ण हुआ। नायक ने खड़े होकर वैसे ही गम्भीर स्वर में कहा—"तेरहवें प्रधान की कुर्सी हम तुम्हें देते हैं।"

मैंने कहा—"तेरहवें प्रधान की हैसियत से मैं पूछता हूँ कि उसका अपराध मुझे बताया जाय।"

नायक ने नम्रतापूर्वक जवाब दिया—"वह हमारे हत्या-सम्बन्धी षड्यन्त्रों का विरोधी था, हमें उस पर सरकारी मुखबिर होने का सन्देह था!" मैं कुछ कहने योग्य न रहा।

नायक ने वैसे ही गम्भीरता से कहा—"नवीन प्रधान की हैसियत से तुम यथेच्छ एक पुरस्कार माँग सकते हो।"

अब मैं रो उठा। मैंने कहा—"मुझे मेरे वचन फेर दो, मुझे मेरी प्रतिज्ञाओं से मुक्त करो, मैं उसी के समुदाय का हूँ। तुम लोगों में नंगी छाती पर तलवार के घाव खाने की मर्दानगी न हो, तो तुम अपने को देशभक्त कहने में संकोच करो। तुम्हारी इन कायर हत्याओं को मैं घृणा करता हूँ। मैं हत्यारों का साथी, सलाही और मित्र नहीं रह सकता, तुम तेरहवीं कुर्सी जला दो।"

नायक को क्रोध न आया। बारहों प्रधान पत्थर की मूर्ति की तरह बैठे रहे। नायक ने उसी गम्भीर स्वर में कहा—"तुम्हारे इन शब्दों की सजा मौत है, पर नियमानुसार तुम्हें क्षमा पुरस्कार में दी जा सकती है।"

मैं उठकर चला गया।

दस वर्ष व्यातीत हो गये। देश-भर में घूमा, कहीं ठहरा नहीं, भूख, प्यास, विश्राम और शान्ति की इच्छा ही मर गई दीखती है। बस, अब वही पत्र मेरे नेत्र और हृदय की रोशनी है। मेरा वारण्ट निकला था। मन में आया, फाँसी पर जा चढ़ूँ, फिर सोचा, मरते ही उस सज्जन को भूल जाऊँगा, मरने में अब क्या स्वाद है? जीना चाहता हूँ। किसी तरह सदा जीते रहने की लालसा मन में बसी है। जीते-जी ही मैं उसे देख और याद कर सकता हूँ।

———

साइकिल की सवारी

(श्री सुदर्शन)

१

भगवान ही जानता है कि जब मैं किसी को साइकिल की सवारी करते या हारमोनियम बजाते देखता हूँ तब मुझे अपने ऊपर कैसी दया आती है! सोचता हूँ, भगवान ने ये दोनों विद्याएँ भी खूब बनाई हैं। एक से समय बचता है, दूसरी से समय कटता है। मगर तमाशा देखिये, हमारे प्रारब्ध में कलयुग कि ये दोनों विद्याएँ नहीं लिखी गईं। न साइकिल चला सकते हैं, न बाजा बजा सकते है। पता नहीं, कब से यह धारणा हमारे मन में बैठ गई है कि हम सब कुछ कर सकते हैं, मगर ये दोनों काम नहीं कर सकते।

शायद १६३२ की बात है कि बैठे-बैठे ख्याल आया, चलो साइकिल चलाना सीख लें। और इसकी शुरूआत यों हुई कि हमारे लड़के ने चुपचुपाते में यह विद्या सीख ली, और हमारे सामने से सवार होकर निकलने लगा। अब आप से क्या कहें कि लज्जा और घृणा के कैसे-कैसे ख्याल मेरे मन में उठे। सोचा, क्या हमीं जमाने भर में फिसड्डी रह गये हैं। सारी दुनिया चलाती है; ज़रा ज़रा से लड़के चलाते हैं; मूर्ख और गँवार चलाते हैं, हम तो परमात्मा की कृपा से फिर भी पढ़े-लिखे हैं।

क्या हमीं नहीं चला सकेंगे ? आखिर इसमें मुश्किल क्या है ? कूद कर चढ़ गये और ताबड़-तोड़ पाँव मारने लगे। और जब देखा कि कोई राह में खड़ा है तब टन-टन करके घंटी बजा दी। न हटा तो क्रोधपूर्ण आखों से उसकी तरफ देखते हुए निकल गये। बस, यही तो सारा गुर है इस लोहे की सवारी का ! अब ऐसा मालूम हुआ कि हम "बे-फजूल" ही मरे जाते थे। कुछ ही दिनों में सीख लेंगे। बस महाराज ! हमने निश्चय कर लिया कि चाहे जो हो जाय, परवा नहीं।

दूसरे दिन हमने अपने फटे पुराने कपड़े तलाश किये, और उन्हें ले जाकर श्रीमती जी के सामने पटक दिया कि इनकी ज़रा मरम्मत तो कर दो।

श्रीमती जी ने हमारी तरफ अचरज भरी दृष्टि से देखा और कहा—"इन कपड़ों में अब जान ही कहाँ है, जो मरम्मत करूँ। ये तो फेंक दिये थे। आप कहाँ से उठा लाये ? वहीं जाकर डाल आइए।"

हमने मुसकराकर श्रीमती जी की तरफ देखा। मुँह से कहा—"तुम हर समय बहस न किया करो। आखिर मैं इन्हें ढूँढ-ढाँढ कर लाया हूँ तो ऐसे ही तो नहीं उठा लाया। कृपा करके इनकी मरम्मत कर डालो !"

मगर श्रीमती जी बोलीं—"पहले बताओ, इनका क्या बनेगा ?"

हम चाहते थे, घर में किसी को कानों-कान खबर न हो, और हम साइकिल सवार बन जायँ। और इसके बाद जब

इस विद्या के पंडित हो जायँ तब एक दिन जहाँगीर के मकबरे को जाने का निश्चय करें। घरवालों को ताँगे में बिठा दें, और कहें, तुम चलो, हम दूसरे ताँगे में आते हैं। और जब वे चले जायँ तब साइकिल पर सवार होकर उनको रास्ते में जा मिलें! हमें साइकिल पर सवार देख कर उन लोगों की क्या हालत होगी! हैरान हो जायँगे; आँखे मल-मल कर देखेंगे कि कहीं कोई और तो नहीं है! परन्तु हम गरदन टेढ़ी करके दूसरी तरफ देखने लग जायँगे, जैसे हमें कुछ मालूम ही नहीं है, जैसे यह सवारी हमारे लिए साधारण बात है।

मगर श्रीमती जी ने कहा—"पहले बताओ, इनका क्या बनेगा?" झख मार कर बताना पड़ा कि रोज़-रोज़ ताँगे का खर्च मारे डालता है। साइकिल चलाना सीखेंगे।

श्रीमती जी ने बच्चे को सुलाते हुए हमारी तरफ देखा और मुसकरा कर बोलीं—"मुझे तो आशा नहीं कि आप से यह बेल मँढ़े चढ़ सके। खैर यत्न कर देखिये। मगर इन कपड़ों का क्या बनेगा?"

हमने ज़रा रोब से कहा—"आखिर बाइसिकिल से एक दो बार गिरेंगे या नहीं? और गिरने से कपड़े फटेंगे या नहीं? जो मूर्ख हैं वे नये कपड़ों का नुकसान कर बैठते हैं। जो बुद्धिमान हैं वे पुराने कपड़ों से काम चलाते हैं।"

मालूम होता है, हमारी इस युक्ति का जवाब हमारी स्त्री के पास कोई न था, क्योंकि उन्होंने उसी समय मशीन मँगवा कर उन कपड़ों की मरम्मत शुरू कर दी।

इधर हमने बाज़ार जाकर जम्बक के दो डिब्बे खरीद लिये कि चोट लगने पर उसका उसी समय इलाज किया जा सके। इसके बाद जाकर एक खुला मैदान तलाश किया, ताकि दूसरे दिन से साइकिल-सवारी का काम शुरू किया जा सके।

२

अब यह सवाल हमारे सामने था कि अपना उस्ताद किसे बनावें। इसी उधेड़ बुन में बैठे थे कि तिवारी लक्ष्मीनारायण आ गये और बोले—"क्यों भाई, हो जाय एक बाजी शतरंज की। ज़रा आवाज़ दो लड़के को। शतरंज और मुहरे उठा लावे।"

हमने सिर हिला कर जवाब दिया, "नहीं साहब! आज तो जी नहीं चाहता।"

तिवारी जी ने अपने घुटे हुए सिर से टोपी उतार कर हाथ में ले ली और सिर पर हाथ फेर कर बोले—"हम तो इतनी दूर से चल कर आये हैं कि एक दो बाजियाँ खेलेंगे, तुमने कह दिया, जी नहीं चाहता।"

"यदि जी न चाहे तो क्या करें?"

यह कहते-कहते हमारा गला भर आया। तिवारी जी का दिल पसीज गया। हमारे पास बैठ कर बोले—"अरे भाई, मामला क्या है? स्त्री से झगड़ा तो नहीं हो गया?"

हमने कहा—"तिवारी भैया, क्या कहें? सोचा था, लाओ, साइकिल की सवारी सीख लें! मगर अब कोई ऐसा आदमी नहीं दिखाई देता जो हमारी सहायता करे। बताओ, है कोई ऐसा आदमी तुम्हारे ख्याल में।"

तिवारी जी ने हमारी तरफ बेबसी की आँखों से ऐसे देखा मानो हमको कोई खजाना मिल रहा है, और वे खाली हाथ रहे जाते हैं। बोले—"मेरी मानो तो यह रोग न पालो। अब इस आयु में साइकिल पर चढ़ोगे ? और फिर यह भी कोई सवारियों में सवारी है कि डंडे पर उकडूँ बैठे हैं; और पाँव चला रहे हैं। अजी लानत भेजो इस ख्याल पर, और आओ एक बाजी खेलो। कहने लगे, साइकिल चलाना सीखेंगे। क्या टाँगे टूट गये हैं ?"

मगर हमने भी कच्ची गोलियाँ नहीं खेली थीं। साफ समझ गये कि तिवारी ईर्ष्या की आग में फुका जाता है। मुँह फुलाकर हमने कहा—"भई तिवारी, हम तो जरूर सीखेंगे। कोई आदमी बताओ।"

"आदमी तो ऐसा है एक। मगर वह मुफ्त नहीं सिखायेगा। फीस लेगा। दे सकोगे ?"

"कितने दिन में सिखा देगा ?"

"यही दस बारह दिन में !"

"और फीस क्या लेगा हमसे ?"

"औरों के पचीस लेता है। तुम से बीस ले लेगा हमारी खातिर !"

हमने सोचा—दस दिन में सिखायेगा, और बीस रुपये फीस लेगा। दस दिन—बीस रुपये। बीस रुपये—दस दिन। अर्थात् दो रुपये रोजाना, अर्थात् साठ रुपये महीना, और वह भी एक दो घंटों के लिए। ऐसी तीन-चार ड्यूटियाँ मिल जायँ तो ढाई-तीन सौ रुपया महीना हो गया। हमने तिवारी जी से तो

इतना ही कहा कि जाकर मामला तय कर आओ, मगर जी में खुश हो रहे थे कि साइकिल चलाना आ जाय, तो एक ट्रेनिंग स्कूल खोल दें, और तीन-चार सौ रुपये मासिक कमाने लगें।

इधर तिवारी जी मामला तय करने गये, उधर हमने यह शुभ समाचार जाकर श्रीमती जी को सुना दिया कि कुछ दिनों के बाद हम एक ऐसा स्कूल खोलने वाले हैं जिसमें तीन-चार सौ रुपया महीने की आमदनी होगी।

श्रीमती जी बोलीं—"तुम्हारी इतनी आयु हो गई, मगर ओछापन न गया। पहले आप तो सीख लो, फिर स्कूल खोल लेना। मैं तो समझती हूँ कि तुम सीख ही न सकोगे; दूसरों को सिखाना तो दूर की बात है।

हमने बिगड़ कर कहा—"यह तुम में बड़ी बुरी आदत है कि हर काम में टोक देती हो। हमसे बड़े-बड़े सीख रहे हैं तो हम क्या न सीख सकेंगे? और पहले तो शायद सीखते, शायद न सीखते, मगर अब जब तुमने टोका है तब जरूर सीखेंगे। तुम भी कहोगी।"

श्रीमती जी बोलीं—"मैं तो चाहती हूँ तुम हवाई जहाज चलाओ; यह बाइसिकिल क्या चीज़ है? पर तुम्हारे स्वभाव से डर लगता है। एक बार गिरोगे तो देख लेना, बाइसिकिल वहीं फेंक फाँक कर चले आओगे।"

इतने में तिवारी जी ने बाहर से आवाज दी। हमने जाकर देखा तो उस्ताद साहब खड़े थे। हमने शरीफ विद्यार्थियों के

समान श्रद्धा से हाथ बाँधकर प्रणाम किया, और चुपचाप खड़े हो गये।

तिवारी जी—"यह तो बीस पर मानते ही न थे। बड़ी मुश्किल से मनाया है। पर पेशगी लेंगे। कहते हैं, पीछे कोई नहीं देता।"

हम—"अरे भई, हम देंगे। दुनियाँ लाख बुरी है, मगर फिर भी भले आदमियों से खाली तो नहीं है। यह बीस रुपया तो चीज ही क्या है? हम अपना धर्म लाखों के लिए भी न गँवावेंगे। बस, एक बार हमें साइकिल चलाना सिखा दें, फिर देखें, हम इनकी क्या-क्या सेवा करते हैं।"

मगर उस्ताद साहब नहीं माने, बोले—"फीस पहले लेंगे।"

हम—"और यदि आपने नहीं सिखाया तो—"

उस्ताद—"नहीं सिखाया तो फीस लौटा देंगे।"

हम—"और यदि फीस नहीं लौटाई तो—"

उस्ताद—"अब इस 'तो' का जवाब तो मेरे पास है नहीं, मगर इतना कह सकता हूँ कि ऐसी बेईमानियाँ मुझे बदनाम न कर देंगी?"

इस पर तिवारी जी ने कहा—"अरे साहब! क्या यह तिवारी मर गया है? शहर में रहना हराम कर दूँ, बाजार में निकलना बंद कर दूँ। फ़ीस लेकर भाग जाना कोई हँसी खेल है?"

जब हमें विश्वास हो गया कि इसमें कोई धोखा नहीं है तब हमने फीस के रुपये लाकर उस्ताद की भेंट कर दिये और

कहा—"उस्ताद, कल सवेरे सवेरे ही आ जाना। हम तैयार रहेंगे। हमने इस काम के लिए कपड़े भी बनवा लिये हैं। और अगर गिर पड़े तो घाव पर लगाने के लिए जम्बक भी खरीद लिया है। और हाँ, हमारे पड़ोस में जो मिस्त्री रहता है उससे साइकिल भी माँग ली है। आप सवेरे ही चले आवें तो हरि का नाम लेकर शुरू कर दें।"

तिवारी जी और उस्ताद ने हमें हर तरह से तसल्ली दी, और चले गये। इतने में हमें याद आया कि एक बात कहनी भूल गये। नंगे पाँव भागे, और उन्हें बाज़ार में जा लिया। वे हैरान थे। हमने हाँफते हाँफते कहा—"उस्ताद, हम शहर के पास नहीं सीखेंगे, लारेंस बाग में जो मैदान है, वहाँ सीखेंगे। वहाँ एक तो भूमि नर्म है, चोट कम लगती है। दूसरे वहाँ कोई देखता नहीं है।"

३

अब रात को आराम की नींद कहाँ? बार बार चौंकते थे और देखते थे कि कहीं सूरज तो नहीं निकल आया। सोते थे तो साइकिल के सपने आते थे। एक बार देखा कि हम साइकिल से गिर कर जख्मी हो गये हैं। दूसरी बार देखा कि हम साइकिल पर सवार हैं, साइकिल आपसे आप हवा में चल रही है और लोग हमारी तरफ आखें फाड़-फाड़ कर देख रहे हैं।

जब आखें खुलीं तो दिन निकल आया था। जल्दी से जाकर वे पुराने कपड़े पहन लिये; जम्बक का डिब्बा हाथ में ले लिया

और नौकर को भेज कर मिस्त्री से साइकिल मँगवा ली। इसी समय उस्ताद साहब भी आ गये और हम भगवान का नाम लेकर लारेंस-बाग की ओर चले। लेकिन अभी घर से निकले ही थे कि बिल्ली रास्ता काट गई, और एक लड़के ने छींक दिया। क्या कहें, हमें कैसा क्रोध आया, उस नामुराद बिल्ली पर और उस शैतान लड़के पर! मगर क्या करते? दाँत पीस कर रह गये। एक बार फिर भगवान का पावन नाम लिया, और आगे बढ़े। पर बाजार में पहुँच कर देखा कि हर आदमी जो हमारी तरफ देखता है, मुसकराता है। अब हम हैरान थे कि बात क्या है! सहसा हमने देखा कि हमने जल्दी और घबराहट में पाजामा और अचकन दोनों उलटे पहन लिये हैं, और लोग इसी पर हँस रहे हैं। सिर मुँड़ाते ही ओले पड़े।

हमने उस्ताद से माफी माँगी, और घर लौट आये अर्थात् हमारा पहला दिन मुफ्त में गया।

दूसरे दिन निकले। हमारे घर के पास जो लाला साहब रहते हैं वे सामने आ गये और मुसकरा कर बोले—"कहिये, कहाँ जा रहे हैं?"

ये लाला साहब यों तो बहुत भले आदमी हैं, लेकिन इनकी एक आदत बहुत बुरी है, जिससे मिलते हैं उसी से पूछते हैं, "कहाँ चले?" कई बार समझाया कि जब कोई काम पर निकले और उससे 'कहाँ' पूछा जाय तो वह काम कभी नहीं होता और जिसका काम बिगड़ जाता है वह 'कहाँ' पूछनेवाले को गालियाँ देता है। मगर लाला साहब पर जरा असर नहीं होता। इस

समय हमने उनसे बचने का कितना यत्न किया, किस-किस तरफ़ मुँह मोड़ा, मगर उनकी 'कहाँ' की तोप से कौन बच सकता है ? महात्माजी ने सामने आकर गोला दाग ही तो दिया।

हमने जल भुन कर जवाब दिया—"नरक को जा रहे हैं। आप भी चलेंगे क्या ?"

लाला—"भगवान जानता है, मुझे मालूम न था कि आप किसी काम के लिए जा रहे हैं।"

हम—"मानो हम बेकार घूमा करते हैं।"

लाला—"अजी जनाब ! आप भी क्या बातें करते हैं ? मैं आपकी शान में ऐसी गुस्ताखी कर सकता हूँ ? मेरा मतलब यह था..."

हम—"कि इनसे 'कहाँ' न पूछा तो प्रलय हो जायगा। जरा सोचिए, आप से कितनी बार हमने निवेदन किया है कि हमें इस 'कहाँ' से डर लगता है। मगर आपको यह ऐसा रोग लगा है कि पीछा ही नहीं छोड़ता। आज ही साइकिल चलाना सीखने जा रहे थे। यह देखिए, पुराने कपड़े और जम्बक का डिब्बा और ये उस्ताद साहब और यह साइकिल। लेकिन इस 'कहाँ' ने आज का दिन भी खराब कर दिया। आपने तो मुसकराकर पूछ लिया—'कहाँ'; हमारा दो रुपये का नुकसान हो गया।"

उधर उस्ताद साहब ने साइकिल की घंटी बजा कर हमें अपने पास बुलाया और बोले—"मैं एक गिलास लस्सी पी लूँ। आप ज़रा साइकिल को थामिए।"

लाला साहब ने जब यह अवसर पाया तो प्राण लेकर भाग निकले; वरना हम उनसे उस दिन कागज़ लिखा लेते कि अब फिर किसी से 'कहाँ' नहीं पूछेंगे।

(४)

उस्ताद साहब लस्सी पीने लगे तब हमने साइकिल के पुर्ज़ों की ऊपर-नीचे से परीक्षा शुरू कर दी और लालाजी से जो बद-मज़गी होगई थी उसे मिटाने के लिए मुँह में गुनगुनाने लगे।

फिर कुछ जी में आया तब उसका हैंडल पकड़कर ज़रा चलने लगे। मगर दो ही क़दम गये होंगे कि ऐसे मालूम हुआ, जैसे साइकिल हमारे सीने पर चढ़ी आती है। अब तो हमें पूरा विश्वास हो गया कि यह सब लालाजी के 'कहाँ' का प्रभाव है।

इस समय हमारे सामने यह गम्भीर प्रश्न था कि क्या करना चाहिये? युद्ध-क्षेत्र में डटे रहें या हट जायँ? सोच विचार के बाद यही निश्चय हुआ कि यह लोहे का घोड़ा और फिर लालाजी का "कहाँ" इसके साथ! इसके सामने हम क्या चीज़ हैं? बड़े-बड़े वीर योद्धा भी नहीं ठहर सकते। इसलिए हमने साइकिल छोड़ दी, और भगोड़े सिपाही बन कर मुड़ गये। पर दूसरे ही क्षण साइकिल अपने पूरे ज़ोर से हमारे पाँव पर गिर गई और हमारी रामदुहाई बाज़ार के एक सिरे से दूसरे सिरे तक गूँजने लगी। उस्तादजी लस्सी छोड़कर दौड़ आये और दयावान लोग भी जमा हो गये। सबने मिल-मिलाकर

हमारा पाँव साइकिल से निकाला। भगवान के एक भक्त ने जम्बक का डिब्बा भी उठा कर हमारे हाथ में दे दिया। दूसरे ने हमारी बगलों मे हाथ डालकर हमें सँभाला और सहानुभूति से पूछा—"चोट तो नहीं आई? ज़रा दो चार क़दम चलिए। नही तो लहू जम जायगा।"

इस तरह दूसरे दिन हम और हमारी साइकिल अपने घर से थोड़ी दूर पर ज़ख्मी हो गये। हम लँगड़ाते हुए घर लौट आये, साइकिल ठोक पीट कर ठीक करने लिए मिस्त्री की दुकान पर भेज दी।

मगर हमारे वीर हृदय का साहस और धीरज देखिये—अब भी मैदान में डटे रहे। कई बार गिरे, कई बार शहीद हुए। घुटने तुड़वाये, कपड़े फड़वाये, पर क्या मजाल, जो जी छूट जाय। आठ-नौ दिन में साइकिल चलाना सीख गये। लेकिन अभी तक उस पर चढ़ना नहीं आता था। कोई परोपकारी पुरुष सहारा देकर चढ़ा देता तो फिर लिये चले जाते थे। हमारे आनन्द की कोई सीमा न थी। सोचते थे, मार लिया मैदान हमने! दो चार दिन में पूरे मास्टर बन जायँगे, इसके बाद प्रोफेसर और इसके बाद प्रिंसिपल—फिर ट्रेनिंग कालेज, और तीन चार सौ रुपया मासिक। तिवारी जी देखेंगे, और ईर्ष्या से जलेंगे।

उस दिन उस्ताद ने हमें साइकिल पर चढ़ा दिया और सड़क पर छोड़ दिया कि ले जाओ अब तुम सीख गये।

अब हम साइकिल चला रहे थे, और दिल ही दिल फूले न

समाते थे। मगर हाल यह था कि कोई आदमी दो सौ गज के फासिले पर भी होता तो हम गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाना शुरू कर देते—साहब! जरा बाईं तरफ हट जाइएगा। दूर फासिले पर कोई गाड़ी दिखाई देती तो हमारे प्राण सूख जाते उस समय हमारे मन की जो दशा होती उसे परमेश्वर ही जानता है। जब गाड़ी निकल जाती तब कहीं जाकर हमारी जान में जान आती।

सहसा सामने से तिवारी जी आते दिखाई दिये। हमने उन्हें भी दूर से ही अल्टीमेटम दे दिया कि तिवारी जी, बाईं तरफ हो जाओ वरना साइकिल तुम्हारे ऊपर चढ़ा देंगे। तुमसे बड़ा मूजी और कौन मिलेगा?

तिवारी जी ने अपनी छोटी छोटी आँखों से हमारी तरफ देखा और मुसकरा कर कहा—"ज़रा एक बात तो सुनते जाओ।"

हमने एक बार हैंडल की तरफ दूसरी बार तिवारी जी की तरफ देखकर जवाब दिया—"इस समय कैसे बात सुन सकते हैं? देखते नहीं हो, साइकिल पर सवार हैं।"

तिवारी जी—"तो क्या जो साइकिल चलाते हैं वे किसी की बात नहीं सुनते? बड़ी ज़रूरी बात है, ज़रा उतर आओ।"

हमने लड़खड़ाते हुए साइकिल को सँभालते हुए जवाब दिया—"उतर आये तो फिर चढ़ायेगा कौन? अभी चलाना सीखा है, चढ़ना नहीं सीखा।"

तिवारी जी चिल्लाते ही रह गये, हम आगे निकल गये।

इतने में सामने से एक ताँगा आता नज़र पड़ा। हमने उसे भी दूर से डाँट दिया—"बाईं तरफ भाई। अभी नये चलाने वाले हैं।"

ताँगा बाईं तरफ हो गया। हम अपने रास्ते चले जा रहे थे। एकाएक पता नहीं, घोड़ा भड़क उठा था ताँगेवाले को शरारत सूझी, जो भी हो, ताँगा हमारे सामने आ गया। हमारे हाथ पाँव फूल गये। ज़रा सा हैंडल घुमा देते तो हम दूसरी तरफ निकल जाते। मगर बुरा समय आता है तब बुद्धि पहले भ्रष्ट हो जाती है। उस समय हमें ख्याल ही न आया कि हैंडल घुमाया भी जा सकता है। फिर क्या था हम और हमारी साइकिल दोनों ही ताँगे के नीचे आ गये और हम बेहोश हो गये।

जब हम होश में आये तब हम अपने घर में थे और हमारी देह पर कितनी ही पट्टियाँ बँधी थीं। हमें होश में देखकर श्रीमती जी ने कहा—"क्यों? अब क्या हाल है? मैं कहती न थी, साइकिल चलाना न सीखो। उस समय तो किसी की सुनते ही न थे।"

हमने सोचा; लाओ सारा इलज़ाम तिवारी जी पर लगा दें, और आप साफ बच जायें। बोले—"यह सब तिवारी जी की शरारत है।"

श्रीमती जी ने मुसकरा कर जवाब दिया—"यह तो तुम उसको चकमा दो जो कुछ जानता न हो। उस तांगे पर मैं ही तो बच्चों को लेकर घूमने निकली थी कि चलो सैर भी कर

आयेंगे और तुम्हें साइकिल चलाते भी देख आयेंगे।"

मैंने निरुत्तर होकर आँखें बन्द कर लीं।

उस दिन के बाद फिर कभी हमने साइकिल को हाथ नहीं लगाया।

लोहार की एक

(श्री अन्नपूर्णानन्द)

पौ फटने की खुशी में संसार के सारे मुरगे अपना गला फाड़ कर चुप हो चुके थे। अब छोटी चिड़ियों की बारी थी। वे खुली हुई खिड़कियों से झाँक कर सोने वालों को धिक्कार रही थीं।

जागने की कोशिश में उसने भी कुछ करवटें बदल डालीं। पर दो करवटों के बीच में उसकी आँखें एक बार फिर ज़रा लग गईं। इस समय उसने स्वप्न क्या देखा कि ब्रह्मा अपने कमडंल में हिमालय पर्वत को रख कर हिला रहे हैं। वह उठ बैठा। उसने देखा कि उसके कमरे का दरवाज़ा हाथों से, लकड़ियों से, जूतों से पीटा जा रहा है।

उसने घबरा कर कमरा खोल दिया। बाहर बोर्डिंग के छटे हुए शैतानों का एक दल खड़ा था। उनमें से एक ने कहा—"अजी तुम अभी सो रहे हो। आज हम लोगों की पिकनिक पार्टी है। चलो तुम्हें भी चलना होगा।"

अपने दुर्भाग्य से उसने 'नहीं करना' नहीं सीखा था। यही उसकी कमी और कचाई थी। अपनी बुद्धि के बार-बार मना करने पर भी उसने हामी भर दी।

पिकनिक के लिए जो स्थान नियत हुआ था वह ठीक नदी के

किनारे शहर से ५-६ मील के फासले पर था। रास्ता पगडंडियों का था। पैदल चलकर वहाँ पहुँचना था।

सात बजे तक वे सब रवाना हो गये। उनकी संख्या दर्जन के पार ही थी। 'जिमि दसनन महँ जीभ बेचारी'—वह भी उन के साथ चला।

पिकनिक का थोड़ा आनन्द तो उसे चलने के पहले ही प्राप्त हो गया जब प्रायः सभी ने उसे अपनी एक-न-एक चीज हवाले की, और कहा कि इसे लिये चलो। मुरारी ने अपना ओवर-कोट उसके कंधे पर डाल दिया कि संध्या समय जरूरत पड़ेगी तो ले लूँगा। मोहन ने दो मोटे उपन्यास उसकी बगल में दबा दिये कि इच्छा होगी तो वहीं लेटकर पढ़ूँगा। माधो आज नदी के किनारे खुली हवा में कसरत करने वाला था। उसने अपने डंबल उसे पकड़ा दिये कि वहाँ पहुँच कर तुमसे ले लूंगा।

मालगाड़ी सा लदा हुआ और इञ्जिन सा हाँपता हुआ वह निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा। दोपहर तक खाना तैयार हुआ और लोग खाने बैठे।

खाने के पहले वह हाथ पाँव धोने नदी के किनारे गया था। लौट कर देखता है कि उसकी पत्तल से चूरमे के लड्डू गायब हैं और दही-बड़ों के नाम पर सकोरे में थोड़ा मठा बच रहा है।

उसने एक लम्बी साँस ली और खाने बैठ गया। खाने के बाद लोगों ने उसकी कमीज में, जो उसने उतार कर टाँग दी थी, हाथ पोंछे। वह लेटा था कि उसकी नाक पर सुँघनी भुरकी जाने लगी। अपनी नाराजगी प्रकट करने के लिए वह उनकी

और पीठ फेर कर बैठा तो उसकी पीठ पर तबला बजाया जाने लगा।

वह सबसे अलग एक पत्थर पर जा बैठा। उसका मन खट्टा हो गया था। उसको आज तक की आपबीती उसकी आँखों के सामने एक-एक करके गुज़रने लगी। बोर्डिंग में उसका पहला दिन भी ख़ैरियत से न बीता था—उसने अपने बादामी जूतों पर काली पालिश पुती हुई पाई थी।

फिर तो वह रोज़ ही ऐसी हरकतों का शिकार बनता। बाहर से साँकल चढ़ाकर वह घंटों अपने कमरे में कैद कर दिया जाता। बोर्डिंग भर में जितने केले और संतरे खर्च होते उनके छिलके उसके दरवाजे पर फेंके जाते।

एक बार उसका आधा टिन घी ग़ायब हो गया और उसके स्थान पर उसे चावल का माँड भरा मिला। एक रोज़ पानी पीने के लिए वह मुँह के पास लोटा ले गया था कि उसमें से एक जीता-जागता मेंढक उछल पड़ा, जिसे—पीछे मालूम हुआ—मुरारी ने कहीं से पकड़ कर उसमें बन्द कर दिया था। लोटा हाथ से छूट कर उसके पैर के अँगूठे पर गिरा और वह अरसे तक लँगड़ाता रहा।

एक समय आता है जब चन्दन भी आग फेंक देता है। कितना सहूँ, कैसे सहूँ और कब तक सहूँ—यही प्रश्न उसके दिल में उठते थे और विलीन होते थे। आफत एक तरफ से हो और एक तरफ की हो तो कोई बरदाश्त भी कर ले। यहाँ तो सारा बोर्डिंग एक विशाल कारखाना था, जहाँ नित्य कोई नयी

शैतानी गढ़-छील कर तैयार होती और जिसकी आजमाइश उसी के ऊपर की जाती।

खैर किसी तरह शाम हुई और दोस्तों ने चलने की तैयारी की। वह भी उनके साथ चला। पर होनहार को कौन जानता था?

वह दस कदम भी न चला होगा कि चीख उठा। जब तक लोग उसके पास दौड़ आवें तब तक वह लड़खड़ा कर गिर पड़ा। चारों से 'क्या है क्या है' की आवाज आने लगी। उसने हाय भर कर कहा कि मुझे साँप ने काट खाया।

यह सुनना था कि सबको जैसे काठ मार गया। यह कैसा रंग में भंग! शहर से सात मील का फासला और पगडंडियों का रास्ता। कोई होशियार डाक्टर मिलता तो बेचारे की जान न जाती। लेकिन डाक्टर बिना शहर गये कहाँ मिलेंगे?

मुरारी के भी हाथ-पाँव फूल गये थे, पर उसने शीघ्र अपने को सँभाला। पास में एक गाँव था। वहीं किसी किसान से उसने दो रुपये में एक खाट मोल ली।

इसी खाट पर उसे लिटा कर चार लड़कों ने अपने सिर पर उठा लिया और शहर की ओर ले दौड़े। बाकी १०-१२ लड़के साथ साथ दौड़ चले। पहली चौकड़ी के थक जाने पर दूसरी चौकड़ी खाट को उठा लेती थी। यों कन्धे बदलते आगे चले जा रहे थे।

उसका वज़न कम नहीं था। जो उसे खाट समेत उठा कर दौड़ रहे थे उन्हीं का दिल जानता था। दौड़ते-दौड़ते उन का बुरा हाल था। पसीने से तर तो सभी हो रहे थे। कुछ लड़के अपना

पेट पकड़ कर हाँफ रहे थे, पर तब भी दौड़ते चले जा रहे थे। रास्ते में जो मिलता वही उन्हें और तेज दौड़ने की सलाह देता।

वह भी उन्हें दम न लेने देता था। वह खाट पर लेटा बराबर कहर रहा था। कभी कभी वह उठ बैठता और पागलों सा हाथ पटकने लगता। उस समय उसकी खाट जिनके सर पर होती वे बेचारे त्राहि-त्राहि पुकारते। उन्हें इतना भी समय न था कि रुक कर ज़रा सर सहला लेते।

अपनी विक्षिप्तता की अवस्था में वह अक्सर चिल्ला उठता कि मेरी जान जा रही है और तुम लोग चहल-कदमी कर रहे हो? यद्यपि न्याय की बात यह है कि इस समय दौड़ने में वे घोड़ों को भी मात कर रहे थे। वह कभी-कभी मार भी बैठता। उसके दाहिने हाथ की ओर खाट उठाने में लड़के झिझकते थे; पर लाचारी थी, उठाना पड़ता।

खैर घंटे भर की सरपट दौड़ के बाद शहर की बिजलियाँ दिखाई पड़ने लगीं। शहर में घुसते ही बोर्डिंग था और पास ही सिविल-सर्जन का बँगला था।

लड़कों ने सिविल-सर्जन के बँगले पर उसकी खाट उतारी। घोर श्रान्ति के कारण वे मृतप्राय हो रहे थे। जिसे जहाँ जगह मिली वह वहीं गिर कर बैठ रहा। उनकी साँस धौंकनी की तरह चल रही थी, मुँह से सीधे बात न निकलती थी।

खैर साहब को खबर हुई। खाना खा रहे थे। छोड़ कर बाहर आये। उन्हें देख कर वह उठ बैठा। साहब ने पूछा—"तुम्हें साँप ने कहाँ पर काटा है?"

उसने निहायत सादगी और सीधेपन से कहा—"कैसा साँप?"

"तुम्हे साँप ने काटा है न?"

"नहीं तो; कौन कहता है?"

साहब ने उसके साथियों की ओर इशारा किया। उसने कहा—"ये सब शैतान है। आपको बेवकूफ बना रहे हैं। मुझे साँप क्यों काटने लगा? मैं तो थक कर इस खाट पर सो गया था। ये सब शरारतन मुझे ले भागे।"

इस समय उन शैतानों की दशा देखने योग्य थी। जान पड़ता था कि किसी ने तेजाब मे डाल कर उन्हें पकाया है। साहब अपनी आँखों से खा डालने कोशिश कर रहे थे।

उसका ठहरना अब बेकार था। वह चलता हुआ! यार लोग साहब से निपटते रहे।

उस दिन से फिर उसे किसी ने नहीं छेड़ा। उसके साथी उसे आदर की दृष्टि से देखते थे। उसका बोर्डिंग का जीवन चैन से कटने लगा।

———

मिठाईवाला

(श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी)

बहुत ही मीठे स्वरों के साथ वह गलियों में घूमता हुआ कहता—"बच्चों को बहलाने वाला, खिलौने वाला।"

इस अधूरे वाक्य को वह ऐसे विचित्र, किन्तु मादक मधुर ढंग से गाकर कहता कि सुनने वाले एक बार अस्थिर हो उठते। उसके स्नेहाभिषिक्त कण्ठ से फूटा हुआ उपर्युक्त गान सुनकर निकट के मकानों में हलचल मच जाती। छोटे छोटे बच्चों को अपनी गोद में लिये हुए युवतियाँ चिकों को उठाकर छज्जों पर से नीचे झाँकने लगतीं। गलियों और उनके अन्तर्व्यापी छोटे छोटे उद्यानों में खेलते और इठलाते हुए बच्चों का झुण्ड उसे घेर लेता। और तब वह खिलौने वाला वहीं कहीं बैठकर खिलौनों की पेटी खोल देता।

बच्चे खिलौने देखकर पुलकित हो उठते। वे पैसे लाकर खिलौनों का मोल-भाव करने लगते। पूछते—"इछका दाम क्या है, औल इछका, औल इछका?" खिलौनेवाला बच्चों को देखता, उनकी नन्हीं-नन्हीं अँगुलियों और हथेलियों से पैसे ले लेता और बच्चों के इच्छानुसार उन्हें खिलौने दे देता। खिलौने लेकर फिर बच्चे उछलने-कूदने लगते और फिर खिलौनेवाला उसी प्रकार गाकर चल देता—"बच्चों को बहलाने वाला, खिलौने वाला।"

सागर की हिलोर की भाँति उसका वह मादक गान गली भर के मकानों में, इस ओर से उस ओर तक, लहराता हुआ पहुँचता और खिलौनेवाला आगे बढ़ जाता।

राय विजयबहादुर के बच्चे भी एक दिन खिलौने लेकर घर आये। वे दो बच्चे थे—चुन्नू और मुन्नू। चुन्नू जब खिलौना ले आया, तो बोला—"मेला घोला कैछा छुन्दल ऐ !"

मुन्नू बोला—"औल देखो मेला आती कैछा छुन्दल ऐ !"

दोनों अपने हाथी-घोड़े लेकर घर-भर में उछलने लगे। इन बच्चों की माँ रोहिणी कुछ देर तक खड़े-खड़े उनका खेल निरखती रही। अन्त में दोनों बच्चों को बुलाकर उसने पूछा—"अरे ओ चुन्नू-मुन्नू ये खिलौने तुमने कितने में लिये हैं ?"

मुन्नू बोला—"दो पैछे में खिलौनेवाला दे गआ ऐ !"

रोहिणी सोचने लगी—इतने सस्ते कैसे दे गया है ?

कैसे दे गया है, यह तो वही जाने। लेकिन दे तो गया ही है, इतना तो निश्चय है।

ज़रा-सी बात ठहरी, रोहिणी अपने काम में लग गई। फिर कभी उसे इस पर विचार करने की आवश्यकता भला क्यों पड़ती।

२

छै महीने बाद—

नगर-भर में दो-ही चार दिनो में एक मुरलीवाले के आने का समाचार फैल गया। लोग कहने लगे—भाई वाह ! मुरली बजाने में यह एक ही उस्ताद है। मुरली बजाकर, गाना सुनाकर,

वह मुरली बेचता भी है। सो भी दो-दो पैसे में। भला इसमें क्या मिलता होगा। मेहनत भी तो न आती होगी।

एक व्यक्ति ने पूछ लिया—"कैसा है वह मुरलीवाला, मैंने तो उसे नहीं देखा।"

उत्तर मिला—"उमर तो उसकी अभी अधिक न होगी, यही तीस-बत्तिस का होगा। दुबला-पतला गोरा युवक है, बीकानेरी रंगीन साफा बाँधता है।"

"वही तो नहीं, जो पहले खिलौने बेचा करता था?"

"क्या वह पहले खिलौने भी बेचता था?"

"हाँ, जो आकार-प्रकार तुमने बतलाया, उसी प्रकार का वह भी था?"

"तो वही होगा। पर भई, है वह एक ही उस्ताद।"

प्रति दिन इसी प्रकार उस मुरलीवाले की चर्चा होती। प्रतिदिन नगर की प्रत्येक गली में उसका मादक मृदुल स्वर सुनाई पड़ता—"बच्चों को बहलानेवाला मुरलियावाला!"

रोहिणी ने भी मुरलीवाले का यह स्वर सुना। तुरन्त ही उसे खिलौनेवाले का स्मरण हो आया। उसने मन-ही-मन कहा—खिलौनेवाला भी इसी तरह गा गाकर खिलौने बेचा करता था।

रोहिणी उठकर अपने पति विजयबाबू के पास गई! बोली—"जरा उस मुरलीवाले को बुलाओ तो, चुन्नू-मुन्नू के लिए ले लूँ। क्या जाने यह फिर इधर आवे, न आवे। वे भी, जान पड़ता है, पार्क में खेलने निकल गये हैं।"

विजयबाबू एक समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। उसी तरह उसे लिये हुए वे दरवाजे पर आकर मुरलीवाले से बोले—"क्यों भई किस तरह देते हो मुरली ?"

किसी की टोपी गली में गिर पड़ी। किसी का जूता पार्क में ही छूट गया और किसी की सुथनी (पायजामा) ही ढीली होकर लटक आई। इस तरह दौड़ते-हाँफते हुए बच्चों का झुण्ड आ पहुँचा। एक स्वर से सब बोल उठे—"अम बी लेंदे मुल्ली, औल अम बी लेंदे मुल्ली।"

मुरलीवाला हर्ष-गद्‌गद हो उठा। बोला—"सबको देंगे भैया, ज़रा रुको, जरा ठहरो, एक-एक को लेने दो। अभी इतनी जल्दी हम कहीं लौट थोड़े ही जायँगे। बेचने तो आये ही हैं। और हैं भी इस समय मेरे पास एक दो नहीं, पूरी सत्तावन। .. हाँ बाबू जी, क्या पूछा था आपने, कितने में दीं ?......दीं तो वैसे तीन-तीन पैसे के हिसाब से हैं, पर आपको दो-दो पैसे में ही दे दूँगा।"

विजयबाबू भीतर-बाहर दोनों रूपों में मुसकरा दिये। मन-ही-मन कहने लगे—कैसा ठग है! देता सब को इसी भाव से है; पर मुझ पर उलटा एहसान लाद रहा है। फिर—"तुम लोगों की झूठ बोलने की आदत होती है। देते होगे सभी को दो-दो पैसे में पर एहसान का बोझ मेरे ऊपर लाद रहे हो।"

मुरलीवाला एकदम अप्रतिभ हो बठा। बोला—"आपको क्या पता बाबूजी कि इनकी असली लागत क्या है। यह तो ग्राहकों का दस्तूर होता है कि दूकानदार चाहे हानि ही

उठाकर चीज़ क्यों न बेचे, पर ग्राहक यही समझते हैं—दूकानदार मुझे लूट रहा है।....आप भला काहे को विश्वास करेंगे। लेकिन सच पूछिए तो बाबूजी, इनका असली दाम दो ही पैसे है। आप कहीं से भी दो-दो पैसे में ये मुरलियाँ नहीं पा सकते। मैंने तो पूरी एक हजार बनवाई थीं, तब मुझे इस भाव पड़ी हैं।"

विजयबाबू बोले—"अच्छा-अच्छा, मुझे ज्यादा वक्त नहीं है, जल्दी से दो ठो निकाल दो।"

दो मुरलियाँ लेकर विजयबाबू फिर मकान के भीतर पहुँच गये।

मुरलीवाला देर तक बच्चों के झुण्ड में मुरलियाँ बेचता रहा। उसके पास कई रङ्ग की मुरलियाँ थीं। बच्चे जो रङ्ग पसन्द करते, मुरलीवाला उसी रंग की मुरली निकाल देता।

"यह बड़ी अच्छी मुरली है, तुम यही ले लो बाबू, राजाबाबू, तुम्हारे लायक तो बस यह है।..हाँ भैये, तुमको वही देंगे। यह लो।..तुमको वैसी न चाहिये, ऐसी चाहिये ?—यह नारङ्गी रङ्ग की एक ?—अच्छा यही लो।...पैसे नहीं हैं ? अच्छा, अम्मा से पैसे ले आओ। मैं अभी बैठा हूँ।..तुम ले आये पैसे ?..अच्छा, यह लो तुम्हारे लिए मैंने पहले ही से निकाली रक्खी थी।..तुमको पैसे नहीं मिले ! तुमने अम्मा से ठीक तरह से माँगे न होंगे ? धोती पकड़ के, पैरों में लिपट के, अम्मा से पैसे माँगे जाते हैं, बाबू..हाँ फिर जाओ। अबकी बार मिल जायँगे।..दुअन्नी है ? तो क्या हुआ,

ये छै पैसे वापस लो। ठीक हो गया न हिसाब?...मिल गये पैसे! देखो, मैंने कैसी तरकीब बताई! अच्छा, अब तो किसी को नहीं लेना है?—सब ले चुके? तुम्हारी माँ के पास पैसे नहीं हैं! अच्छा, तुम भी यह लो।...अच्छा, तो अब मैं चलता हूँ।"

इस तरह मुरलीवाला फिर आगे बढ़ गया।

३

आज अपने मकान में बैठी हुई रोहिणी मुरलीवाले की सारी बातें सुनती रही। आज भी उसने अनुभव किया, बच्चों के साथ इतने प्यार से बातें करनेवाला पहले कभी नहीं आया—फिर, वह सौदा भी कैसा सस्ता बेचता है और आदमी कैसा भला जान पड़ता है! समय की बात है, जो बेचारा इस तरह मारा-मारा फिरता है। पेट जो कराये सो थोड़ा।

इसी समय मुरलीवाले का क्षीण स्वर निकट की दूसरी गली से सुनाई पड़ा—बच्चों को बहलानेवाला, मुरलीवाला!

रोहिणी इसे सुनकर मन-ही-मन कहने लगी—"स्वर कैसा मीठा है इसका!"

बहुत दिनों तक रोहिणी को मुरलीवाले का यह मीठा स्वर और उसकी बच्चों के प्रति स्नेह-सिक्त बातें याद आती रहीं। महीने-के-महीने आये और चले गये, पर मुरलीवाला न आया। फिर धीरे-धीरे उसकी स्मृति क्षीण होती गई।

४

आठ मास बाद—

सरदी के दिन थे। रोहिणी स्नान करके अपने मकान की छत पर चढ़कर आजानुविलम्बित केश-राशि सुखा रही थी। इसी समय नीचे की गली में सुनाई पड़ा—बच्चों को बहलाने-वाला, मिठाईवाला।

मिठाईवाले का यह स्वर परिचित था, झट से रोहिणी नीचे उतर आई। इस समय उसके पति मकान में नहीं थे। हाँ, उसकी वृद्धा दादी थी। रोहिणी उनके निकट आकर बोली—"दादी, चुन्नू मुन्नू के लिए मिठाई लेनी है। ज़रा कमरे में चलकर ठहराओ तो। मैं उधर कैसे जाऊँ, कोई आता न हो। ज़रा हटकर मैं भी चिक की ओट में बैठी रहूँगी।",

दादी उठकर कमरे में आकर बोली—"ए मिठाईवाले, इधर आना।"

मिठाईवाला निकट आ गया। बोला—"माँ, कितनी मिठाई दूँ? नयी तरह की मिठाइयाँ हैं; रंग-बिरंगी, कुछ-कुछ खट्टी कुछ-कुछ मीठी और ज़ायकेदार। बड़ी देर तक मुँह में टिकती हैं। जल्दी नहीं घुलतीं। बच्चे बड़े चाव से चूसते हैं। इन गुणों के सिवा ये खाँसी को भी दूर करती हैं। कितनी दूँ? चपटी, गोल और पहलदार गोलियाँ हैं। पैसे की सोलह देता हूँ।"

दादी बोली—"सोलह तो बहुत कम होती हैं; भला पचीस तो देते।"

मिठाईवाला—"नहीं दादी, अधिक नहीं दे सकता। इतनी भी कैसे देता हूँ, यह अब मैं आपको क्या।... खैर, मैं अधिक तो न दे सकूँगा।"

रोहिणी दादी के पास ही बैठी थी। बोली—"दादी, फिर भी काफी सस्ती दे रहा है चार पैसे की ले लो। ये पैसे रहे।"

मिठाईवाला मिठाइयाँ गिनने लगा।

"तो चार पेसे की दे दो। अच्छा पचीस न सही, बीस ही दो। अरे हाँ, मैं बूढ़ी हुई, मोल-भाव मुझे अब ज्यादा करना भी नहीं आता।"—कहते हुए दादी के पोपले मुँह की जरा-सी मुसकराहट भी फूट निकली।

रोहिणी ने दादी से कहा—"दादी इससे पूछो, तुम इस शहर में कभी और भी आये थे, या पहली ही बार आये हो। यहाँ के निवासी तो तुम हो नहीं।"

दादी ने इस कथन को दोहराने की चेष्टा की ही थी कि मिठाईवाले ने उत्तर दिया—"पहली बार नहीं, और भी कई बार आ चुका हूँ।"

रोहिणी चिक की आड़ ही से बोली—"पहले यही मिठाई बेचते हुए आये थे, या और कोई चीज लेकर ?"

मिठाईवाला हर्ष, संशय और विस्मयादि भावों में डूबकर बोला—"इससे पहले मुरली लेकर आया था; और उससे भी पहले खिलौने लेकर।"

रोहिणी का अनुमान ठीक निकला। अब तो वह उससे और भी कुछ बातें पूछने के लिए अस्थिर-अधीर हो उठी। वह बोली—'इन व्यवसायों में भला तुम्हें क्या मिलता होगा ?"

वह बोला—'मिलता तो क्या है, यही खाने भर को मिल जाता है। कभी नहीं भी मिलता है। पर हाँ, सन्तोष और

धीरज और कभी-कभी असीम सुख ज़रूर मिलता है। और यही मैं चाहता भी हूँ।"

"सो कैसे ? वह भी बताओ।"

"अब व्यर्थ मे उन बातों की चर्चा क्यों करूँ। उन्हें आप जाने ही दें। उन बातों को सुनकर आपको दु:ख होगा।"

"जब इतना बताया है, तब और भी बता दो। मैं बहुत उत्सुक हूँ। तुम्हारा हर्ज़ा न होगा। और भी मिठाई मैं ले लूँगी।"

अतिशय गम्भीरता के साथ मिठाईवाले ने कहा—

'मैं भी अपने नगर का एक प्रतिष्ठित आदमी था। मकान, व्यवसाय, गाड़ी-घोड़े, नौकर-चाकर सभी कुछ था। स्त्री थी, छोटे छोटे दो बच्चे भी थे। मेरा वह सोने का संसार था। बाहर सम्पत्ति का वैभव था, भीतर सांसारिक सुख था। स्त्री, सुन्दर थी, मेरा प्राण थी। बच्चे ऐसे सुन्दर थें, जैसे सोने के सजीव खिलौने। उनकी अठखेलियों के मारे घर में कोलाहल मचा रहता था। समय की गति—विधाता की लीला ! अब कोई नहीं है। दादी, प्राण निकाले नहीं निकले। इसीलिए अपने उन बच्चों की खोज में निकला हूँ। वे सब अन्त में होंगे तो यहीं कहीं। आखिर कहीं-न-कहीं तो जन्मे ही होंगे। उसी तरह रहता, तो घुल घुलकर मरता। इस तरह सुख-संतोष के साथ मरूँगा। इस तरह के जीवन मे कभी-कभी अपने उन बच्चों की एक झलक सी मिल जाती है। ऐसा जान पड़ता है, जैसे वे इन्हीं में उछल-उछल कर हँस-खेल रहे हैं। पैसों की कमी

थोड़े ही है। आपकी दया से पैसे काफी हैं। जो नहीं है, इस तरह उसी को पा जाता हूँ।"

रोहिणी ने अब मिठाईवाले की ओर देखा। देखा—उसकी आँखें आँसुओं से तर हैं।

इसी समय चुन्नू मुन्नू आ गये। रोहिणी से लिपटकर, उसका अंचल पकड़कर बोले—अम्मा, मिठाई।"

"मुझ से लो"—कहकर तत्काल कागज की दो पुड़ियों में मिठाइयाँ भरकर मिठाईवाले ने चून्नू-मुन्नू को दे दीं।

रोहिणी ने भीतर से पैसे फेंक दिये।

मिठाईवाले ने पेटी उठाई और कहा—"अब इस बार ये पैसे न लूँगा।"

दादी बोली—"अरे-अरे, न-न, अपने पैसे लिये जा भाई।"

किन्तु तब तक आगे सुनाई पड़ा उसी प्रकार मादक मृदुल स्वर में—"बच्चों को बहलानेवाला मिठाईवाला।"

अनुष्ठान

(श्री चंडीप्रसाद 'हृदयेश')

(१)

भाग्य और कर्त्तव्य एक दूसरे के पोषक हैं या विघातक, इस विषय में विद्वानों का मत भेद हो सकता है, किन्तु भाग्य के ऊपर निर्भर रहकर कर्त्तव्य की अवहेलना करना कायरता का द्योतक है, इस विषय में सब एकमत हैं। तब क्या अवहेलना ही कायरता का पर्यायवाचक है।

बिश्वविद्यालय की शिक्षा समाप्त कर मोहन ने संसार-क्षेत्र में पदार्पण किया। कालेज के मित्रों का मधुर परिहास अब तक उसके कानो में गूँज उठता है, विद्यार्थी-जीवन का विशुद्ध मनोमोहक चित्र अभी तक उसके हृदय-पटल से मिट नहीं सका है। मोहन ने संसार-क्षेत्र को अनेक कठिनाइयों का निवास पाया। संसार-क्षेत्र क्या आजन्मव्यापी तुमुल संग्राम की युद्ध-भूमि है ?

मोहन ने अपने कालेज-जीवन में भाग्य और कर्त्तव्य का भीषण समर देखा था। कितने अयोग्य बुद्धि-हीन विद्यार्थियों को परीक्षा-फल में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करते देखा था, कितने ही योग्य छात्रों को परीक्षा की युद्ध-भूमि में परास्त होते हुए भी। अनेक बार उसने अपने मित्रों की निराशाजनक उक्ति को

सुना था—"भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्।" मोहन योग्य छात्र था और सौभाग्य से अथवा परिश्रम से उसने परीक्षा में उच्च स्थान प्राप्त किया था। मोहन इस असमंजस में था—"क्या मेरे परिश्रम का यह अनिवार्य फल है अथवा मेरे भाग्य का अज्ञेय विधान?" मोहन इस कठिन समस्या को लेकर संसार-क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ। संसार की पाठशाला में यह समस्या सरल हो जायगी या अधिक जटिल, सो कौन कह सकता है।

(२)

मोहन इसी वर्ष एम० ए० की परीक्षा में समुत्तीर्ण हुआ है। उसका जीवन अत्यंत पवित्र है; नूतन सभ्यता की कुत्सित लालसा ने उसके सरल हृदय पर अधिकार नहीं कर पाया है। सर्प से जैसे मानव-समाज दूर ही रहने का प्रयत्न करता है; निर्मलता जिस प्रकार कालिमा के संसर्ग से दूर रहती है; उसी प्रकार मोहन ने भी इस नूतन उन्मादिनी सभ्यता का बहिष्कार करके अपने आपको उसके बुरे प्रभाव से सुरक्षित रक्खा था। पाश्चात्य नास्तिक न्याय एवं दर्शन-शास्त्रों के गूढ़ सिद्धान्तो को आयत्त करके भी मोहन की बुद्धि विशुद्ध थी, निर्बोध बालक की भाँति हृदय सरल था। दुखी के दुख को देखकर उसके नयनों में जल आ जाता था; दीन की प्राण-पण से सहायता करने के लिए मोहन सदा अग्रसर होता था। मोहन वृद्धजनों के लिए आज्ञाकारी पुत्र, युवतिजन के लिए स्नेही भ्राता. युवकों के लिए सरल बंधु और गाँव की अन्यान्य जनता के लिए प्रत्यक्ष

सेवा की प्रतिमूर्त्ति सा प्रतीत होता था। मोहन वास्तव में मोहन था।

मोहन मोहनपुर ग्राम का निवासी है। उसके पिता उस ग्राम के जमींदार हैं। जमींदार महोदय अत्यंत सौम्य एवं सज्जन हैं। समस्त ग्राम उनमें पितृ-तुल्य स्नेह रखता है। बीसवीं शताब्दी के जमींदारों में वे आदर्श एवं अपवाद-स्वरूप थे। उन्हीं के सच्चरित्र के प्रभाव से अथवा उनके पूर्व-कृत पुण्य-पुंज के प्रसाद से उन्हें मोहन जैसा सच्चरित्र सुपुत्र प्राप्त हुआ है। मोहन उनका एकमात्र आधार है; विश्व-वैतरणी का एकमात्र केवट, परलोक प्राप्त होने पर उनके लिए एकमात्र जलांजलि-दाता, भविष्यांधकार में पतित होने वाले वंश का एक मात्र प्रदीप मोहन उनके प्रेम की मानो सजीव मूर्त्ति था। ऐसे मोहन को पाकर जमींदार महोदय अपने को कृतकृत्य मानते थे, मोहन अपनी माता के लिए तो मानो नयनों की ज्योति ही था। उसके विदेश में रहने पर मोहन की माता को दिनकर की उज्ज्वल आभा एवं अनेक दीपों के प्रकाश होते हुए भी समस्त गृह अंधकार का निकेतन-सा प्रतीत होता था।

मोहन को अब विदेश जाने की आवश्यकता नहीं रही, यह जानकर मोहन की माता की बड़ी भारी चिंता दूर हो गई थी। मोहन की माता का दृढ़ विश्वास था कि भगवती गिरिराज-किशोरी को नित्य गुलाब-कुसुम से पूजा करने का यह फल है। "अब मेरे हृदय का टुकड़ा घर ही पर रहेगा और दूर—बहुत दूर—३० मील दूरी पर पढ़ने के लिए विदेश नहीं जायगा।"

यह जानकर माता का हृदय आनंद से परिपूर्ण हो गया था। मोहन रूपी मानो अतुल सपत्ति प्राप्त कर ली; खोई हुई मणि को पाकर माता हर्षातिरेक से फूली नहीं समाती थी।

दिवस का चतुर्थ प्रहर है। हरे-हरे खेतों में अस्ताचलगामी भगवान सूर्यदेव की सुवर्ण-वर्ण किरणें पड़ कर बड़ी भली प्रतीत हो रही हैं, ज्ञात होता है, मानो सूर्य देवता रसातल यात्रा के समय अपनी प्रियतमा धरणी-देवी का मुख चूम रहे हैं। अथवा सुवर्ण की रेखायें वैडूर्य मणि का आलिंगन कर रही हैं। शीतल समीर पृथ्वी के नीलांचल से क्रीड़ा कर रहा है। किसानो की संगीत-ध्वनि समीर तरंगों पर आरूढ़ होकर अनंत नभ-प्रदेश मे व्याप्त हो रही है। मोहन कपड़े पहनकर बाहर घूमने जाने के लिए उद्यत हो रहे हैं।

माता ने कहा—"मोहन! कहाँ जाता है?" मोहन ने हँसकर कहा—"मैया! जहाँ नित्य जाता हूं, वही आज भी जा रहा हूँ।" माता ने स्नेह-भरे स्वर में कहा—"जा! किंतु शीघ्र आ जाइयो। देर करने से मुझे चिता हो जाती है।" मोहन ने 'हाँ' कहकर घर से बाहर पैर रक्खा। बाहर आते ही देखा कि उनके बाल्य बंधु सोहन उनकी ओर चले आ रहे हैं।

माता का स्नेह स्वर्ग की सुधा-धारा से भी अधिक पवित्र एवं आनद-प्रद है।

(३)

मोहनपुर हिमांचल की उपत्यका मे एक कल्लोलिनी के तट पर अवस्थित है। नदी मे अधिक जल नहीं है; किंतु,

रहता सदा ही है। भीषण ग्रीष्म के भयंकर समय में भी हिमांचल अपनी पुत्री के कलेवर को परिपुष्ट करते रहते हैं; नदी को जल-हीन होने नहीं देते। नदी छोटी एवं मंदगामिनी है। किन्तु, वर्षा-ऋतु में अधिक वेगवती हो जाती है। उस समय ग्राम में आने जाने वाले को तरणी का आश्रय लेना पड़ता है। वर्षा बीत चुकी है; आकाश में कृष्णवर्ण मेघों के स्थान में शुभ्र पयोधर दृष्टिगोचर होते हैं। समस्त पृथ्वी हरित वस्त्र धारण किये हुए है। नदी का जल दर्पण की भाँति स्वच्छ एवं निर्मल है। नदी-तट पर अनेक वन-पुष्पों के पादप हैं; उनकी भीनी-भीनी सुगन्ध पर मोहित होकर मधु-मक्षिकाओं की मंडली उनके गुण का गान गाती फिरती है। इसी नदी के मनोहर दुकूल पर मोहन और सोहन नित्य ही प्रायः विहार करने आते हैं।

पश्चिम-गगन रक्तवर्ण हो गया था; पूर्व गगन में चन्द्रमा का पांडुमुख, रजनी-देवी के ललाट के सौभाग्य-बिंदु की भाँति, शनैः शनैः पहाड़ी के पीछे से ऊपर उठ रहा था। ऐसा प्रतीत होता था मानो असूर्यंपश्या यामिनी धीरे-धीरे अपने अंतःपुर से निकलकर विश्व में विहार करने के लिए आ रही थी। पक्षि-कुल स्वागत गा रहा था। नदी का जल दर्पण की भाँति उसके मनोहर मुख को अपने वक्षःस्थल में धारण करने के लिए समुत्सुक हो रहा था।

मोहन और सोहन समवयस्क हैं। मोहन का जन्म एक धनी ज़मींदार के प्रासाद में हुआ था, सोहन ने एक दरिद्र ब्राह्मण की कुटी में प्रथम बार संसार का आलोक देखा था।

जमींदार और ब्राह्मण में अत्यंत स्नेह था; और वही स्नेह मानो स्थायी होकर मोहन और सोहन के रूप में विश्व-भूमि पर विहार करता था। जमींदार महोदय ने ब्राह्मण देवता को कई बार यथेष्ट धन देने की चेष्टा की; किन्तु ब्राह्मण ने ही सदा वैराग्य की विभूति की महिमा का वर्णन करके उस धन को लेना अस्वीकार कर दिया। ब्राह्मण देवता का यह विश्वास था कि, कभी-कभी धन प्रेम के मार्ग में व्याघात डाल देता है। तुच्छ धन के लिए ब्राह्मणदेव विशुद्ध प्रेम को तिलांजलि देने को उद्यत नहीं हुए।

ब्राह्मण देवता प्रकांड विद्वान् थे; जमींदार महोदय यदि धन के स्वामी थे, तो ब्राह्मण देवता विद्या के आगार थे। सरस्वती और लक्ष्मी का वैमनस्य जगत्प्रसिद्ध है। ब्राह्मण ने सोहन को विविध शास्त्रों की शिक्षा दी थी; शिक्षा के साथ में क्रिया का भी ज्ञान करा दिया था। मोहन यदि पाश्चात्य-विद्या में पारगामी थे, तो सोहन पूर्वीय अध्यात्म विद्या के पंडित थे। मोहन ने बड़े विद्युतशोभित सरस्वती के प्रासादों में शिक्षा पायी थी; सोहन ने प्रकृति के परम रम्य निकुंज-भवन में आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का विवेचन किया था। किन्तु, दोनों की वेश-भूषा में किसी प्रकार वैपरीत्य दृष्टिगोचर नहीं होता था। दोनो ही देशी वेश-भूषा के परम पक्षपाती थे। दोनो में अपूर्व प्रेम था, अश्रुत पूर्व स्नेह था। ऐसे विद्वानों का स्नेह-बंधन कैसा दृढ़ होता है, उसे बताने की आवश्यकता नहीं।

मोहन ने पूछा "भैया! पांडित्य की सार्थकता क्या शास्त्रार्थ मे है?"

सोहन ने हँसकर कहा—"दादा! तुम ऐसे ही प्रश्न करते हो। मैं पूछता हूँ शास्त्र-शिक्षा की सार्थकता क्या शास्त्रार्थ में है?"

मोहन ने हँसकर कहा—"तुम्हारे तर्क से जीतना कठिन है। सचमुच मैं जिज्ञासा के लिए ही तुमसे प्रश्न करता हूँ।"

सोहन ने कहा—'जिज्ञासा-रूप में पूछने पर दूसरे को श्रेष्ठ मानना पड़ता है। किन्तु मैं तो तुमसे श्रेष्ठ नहीं। तुम एक विश्वविद्यालय के दर्शन शास्त्र के एम० ए० हो। तुम्हारी जिज्ञासा को शांत करने का साधन क्या एक साधारण ब्राह्मण के पास मिल सकता है?

मोहन ने हँसकर कहा—"महाराजाधिराज! तुम वास्तव में मुझसे श्रेष्ठ हो। पाश्चात्य दर्शन क्या पूर्वीय दर्शन का सामना कर सकता है। सच कहो, मैं किसी विशेष अभिप्राय से तुम्हारा मत जानना चाहता हूँ।"

सोहन अब की बार गंभीर होकर बोले—"दादा! सचमुच यदि पूछते हो, तो मेरा मत यह है कि, पांडित्य की सार्थकता अज्ञान-तम के विनाश-साधन में है। तर्क के वितंडावाद में सत्य को घसीट कर शब्द-जाल में आबद्ध करना पांडित्य की सार्थकता नहीं, अनुचित अहंकार है। जब पांडित्य कर्त्तव्य-क्षेत्र मे उतर कर अपनी ज्योति के द्वारा अत्याचार के कठोर हाथों से संसार के पुनरुद्धार करने के प्रयत्न में प्रवृत्त होता है माया के विकार बंधन को काटकर मानव-समाज के सम्मुख सत्य को उसके उज्ज्वल रूप में समुपस्थित करता है; काल्पनिक

दुःख को दूर कर वास्तविक अनंत सुख का संचार करता है, तभी पांडित्य की महिमा है, महत्त्व है, सार्थकता है। अन्यथा पांडित्य केवल तर्क का पैशाचिक नृत्य और वितंडावाद का भीषण अट्टहास है।"

सोहन ने उल्लसित होकर कहा—"भैया! इसी को जानने के लिए मैं समुत्सुक हो रहा था। किन्तु, एक बात और पूछता हूँ, पांडित्य क्या ससीम है?"

सोहन ने कहा—"नही! पांडित्य असीम है। पांडित्य उस ज्ञान का शुभ नाम है, जिसे मोक्ष अथवा परम पद कहते हैं। पांडित्य यदि उस ज्योति का प्रकाश है जिसे परमात्मा कहते है, तब क्या पांडित्य ससीम रह सकता है? कोटि-कोटि ब्रह्मांडो को एक में बाँधने का संकल्प धारण करने वाला पांडित्य काल और देश की सीमा के परे है।"

मोहन ने और भी आवेश में कहा—'तब क्या भैया तुम्हारे इस अपूर्व ज्ञान का उपयोग सीमा-बद्ध रहेगा? विश्व की सेवा मे क्या यह पांडित्य अग्रसर नहीं होगा?"

सोहन ने कुछ आश्चर्य में भरकर पूछा—"क्या कहते हो, दादा?"

मोहन ने कहा—"कहता हूँ भैया! कि हम तुम दोनों मिल कर विश्व के अज्ञानांधकार में अक्षय ज्योति-प्रदीप का प्रकाश फैला दें। दुःख-कातरा मानव-मंडली को अनन्त सुख का मार्ग बता दें। विक्षुब्ध संसार-सागर को विष्णु पाद-पद्म का पवित्र स्पर्श करा दें।"

सोहन ने उल्लसित होकर कहा—"तथास्तु ।"

दोनों भाई एक दूसरे के गले लग गये। शुभ संकल्प का शुभ मिलन कैसा आनन्द-प्रद है !

(४)

सुन्दर उद्यान के मध्य में एक मनोहर कुटी है । कुटी विभिन्न कुसुम-लताओं से आच्छादित है। कुटी के पास ही कदली का सघन वन है। उसमें रहने वाला पक्षि-कुल निरंतर स्वर्ग संगीत की भाँति गाता रहता है। उसी कुटी में मोहन के पिता तपस्वी-जीवन व्यतीत करते हैं। सोहन के बाल्यकाल ही में उनकी माता उन्हें मोहन की माता के कोमल-क्रोड़ में देकर परमात्मा की पवित्र गोद में चली गयी थीं। कुटी कई भागों मे विभक्त है। एक में पुस्तकालय है; जिसमें वेद, वेदांग, दर्शन आदि के ग्रंथ हैं। यही मानों इस कुटी का संचित कोष है। ऋषियों की तप-प्राप्त अनन्त विभूति का दुर्लभ संचय है। दूसरी ओर पाठ-शाला है; बीच में बैठने का स्थान है।

शरत्काल का पूर्ण चन्द्र आकाश में हँस रहा है। प्रकृति निस्तब्ध है; मुहूर्त शांत है ! शीत का प्रारम्भ हो गया है। सोहन के पिता और मोहन के पिता इसी बीच वाले स्थान में बैठे-बैठे कथोपकथन कर रहे हैं। सुविधा के लिए हम सोहन के पिता को जयशिव और मोहन के पिता को तेजसिंह के नाम से अभिहित करेंगे।

तेजसिंह ने कहा—"भाई ! तुम्हारा इस विषय में क्या अभिमत है ?"

जयशिव ने कहा—"भाई ! मेरा अभिमत जानने की अभिलाषा से यदि तुम मेरे पास आये हो, तो मैं तो कर्त्तव्य को ही सर्वोपरि मानता हूँ।"

तेजसिंह ने कुछ मंद स्वर में पूछा—"कर्त्तव्य क्या स्नेह से भी बढ़कर है ? कर्त्तव्य के क्षेत्र में क्या स्नेह का बलिदान करना होता है ?"

जयशिव ने गंभीर स्वर में उत्तर दिया—"होता है। भीष्म का ज्वलंत उदाहरण हमारे सम्मुख है। भगवान रामचंद्र की गाथा का तुम नित्य पाठ करते हो। कर्त्तव्य के क्षेत्र मे स्नेह का बलिदान देने से स्नेह का विनाश नहीं होता है। प्रत्युत यह अपने और भी उज्ज्वल रूप में प्रकट होता है। तपोभूमि में आत्मा का क्या बलिदान होता है ? अग्नि में सुवर्ण का क्या विनाश हो जाता है ? वियोग मे प्रेम की क्या मृत्यु हो जाती है ? कर्त्तव्य स्नेह की पवित्रता की परीक्षा है।"

तेजसिंह ने फिर कहा—"यदि वास्तव में मोहन और सोहन आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत धारण करेंगे, तो हम दोनो का कुल कैसे रहेगा ? परलोक में उनके लिए जलांजलि कौन देगा ?"

जयशिव ने कुछ आवेश से कहा—"भीष्म को कौन जल दान देता है ? विश्व पर प्राण देने वाले, कर्त्तव्य-क्षेत्र मे बलिदान होने वाले महात्मा को समस्त ब्रह्मांड पुत्र रूप में जलांजलि देगा। भाई, स्नेह के वशीभूत होकर मोहन और सोहन को उनके कर्त्तव्य-कर्म्म से मत रोको। स्मरण रक्खो कि, वात्सल्य

की सार्थकता अंध प्रेम में नहीं है; ज्वलंत कर्त्तव्य में है। तुम क्षत्रिय हो, क्षत्रिय को अपनी संतान के लिए कर्त्तव्य-पथ पर जाने से रोकने से बढ़कर अन्य घोर पाप नहीं है!"

तेजसिंह ने कुछ अप्रतिभ होकर कहा—"देश की सेवा क्या ब्रह्मचर्यव्रत धारण किये बिना नहीं हो सकती?"

जयशिव—"हो सकती है; किन्तु आदर्श-रूप में नहीं। आदर्श पर पहुँचने के लिए स्वार्थ-त्याग ही सब से प्रबल अवलंब है। वैवाहिक सुख को तिलांजलि देना इस समय भारतीय उन्नति के लिए आवश्यक है।"

तेजसिंह ने रुँधे हुए कंठ से कहा—"भैया! क्या किसी तरह निस्तार नहीं है?"

जयशिव ने कहा—"कर्त्तव्य को लात मार कर क्षणिक सुख का उपभोग करो। जीवन के शेषांश को सुखी बनाने के लिए पुत्रों को कर्त्तव्य-पथ से विमुख करके, उनका उत्साह भंग करके, उन्हें वैवाहिक बंधन मे बाँध दो।"

तेजसिंह ने फिर एक बार पूछा—"कर्त्तव्यानुरोध से दोनों को आजन्मव्यापी कठोर व्रत में व्रती होने देना क्या पितृ-वात्सल्य के लिए एक कठोर यातना नहीं है?"

जयशिव ने ठंडी साँस लेकर कहा—"है; किंतु देश की अभिवृद्धि के लिए सब कुछ करना होगा। स्नेह के लिए देश को तिलांजलि देना घोर पाप है।"

तेजसिंह ने कहा—"तब?"

जयशिव—"तब क्या? उन दोनों को कर्त्तव्य-क्षेत्र में

अवतीर्ण होने दो, उनके मार्ग को शुभाभिलाषा से परिष्कृत कर दो। उनके उत्साह को विजय की आशा से द्विगुणित कर दो। पिता और माता के आशीर्वाद की शीतल छाया में मोहन और सोहन को देश की कल्याण-साधना के लिए जाने दो। भगवान सहाय होंगे।"

तेजसिंह ने फिर आवेश में कहा—'तथास्तु ! भगवान सहाय होंगे।"

पिता ही पुत्र का प्रथम आचार्य है।

(५)

मनोरम सुप्रभात है। सूर्य की उज्ज्वल रश्मि-माला हिमांचल के तुषार-मंडित शिखर पर पतित होकर मानो हिम-श्री को सुवर्ण-वर्ण पीतांवर पहना रही है। पक्षि-कुल कुसुम-पादप पर बैठकर गान कर रहे है। कैसा सुंदर समय है !

मोहनपुर की समस्त जनता आज एकत्रित होकर जमींदार के द्वार पर स्थित है। आज मोहन और सोहन भारत-जननी की पवित्र वेदी पर आत्म-समर्पण करने को जा रहे हैं। मोहनपुर की जनता का हृदय अनुराग और उदासी, आनंद और शोक से द्रवीभूत हो रहा है। दो विपरीत तत्त्वों का सम्मिश्रण है। कैसा आश्चर्य है कि आज शुभ मुहूर्त्त में आनंद और शोक, जल और अनल, एक होकर त्यागीद्वय को आशीर्वाद देने के लिए समुत्सुक हो रहे है। त्याग की कैसी महिमा है !

मोहन और सोहन माता के साथ द्वार-देश पर आये। तपस्वी जयशिव और जमींदार तेजसिंह भी साथ थे। माता

की आँखों में आँसू थे, तेजसिंह क्षत्रिय होकर भी विह्वल हो रहे थे। जयशिव के मुख पर ब्रह्मतेज झलक रहा था।

मोहन और सोहन बाहर आकर खड़े हुए। उन्होंने समस्त जनता को प्रणाम किया। जनता ने एक स्वर में आंतरिक हृदय से उन्हें आशीर्वाद दिया। मूर्छित-प्राया जननी के चरणारविंद में प्रणाम करके सोहन और मोहन ने कहा—"मैया, विह्वल मत होओ। आशीर्वाद दो; हम जगन्माता की सेवा करके कृतार्थ होवें!" माता ने दोनों के मस्तक पर अपना आशीर्वाद-पाणिपल्लव स्थापित करके अस्फुट स्वर में कहा—"जाओ! जगन्माता सहाय हों; किंतु, शीघ्र दर्शन देना।" मोहन और सोहन ने अपने-अपने पिता के चरण-कमलों में प्रणाम किया। तेजसिंह ने आशीर्वाद देकर दोनों को गले से लगा लिया। युवकद्वय के उन्नत ललाट को वात्सल्य-रस की अश्रु-धारा से अभिषिक्त करते-करते कहा—"जाओ! किंतु, जगन्माता के पार्श्व-देश से अपने पिता और माता को मत भूलना। हम को भूलने से उनकी यथार्थ सेवा न कर सकोगे। भगवान सहाय हों।"

जयशिव ने रुँधे हुए कंठ से कहा—"जाओ। किन्तु, याद रखना कि देश का उत्थान ही व्यक्तिगत अभ्युदय का साधन है। भगवान सहाय हो।"

जनता ने मानो उन्हीं के स्वर मे स्वर मिलाकर कहा—"देश का उत्थान ही व्यक्तिगत अभ्युदय का साधन है।"

भाग्य और कर्तव्य की मीमांसा का यही शुभ परिणाम है।

———

उसकी माँ

(पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र')

दोपहर को ज़रा आराम करके उठा था। अपने पढ़ने-लिखने के कमरे में, खड़ा-खड़ा, धीरे-धीरे सिगार पी रहा था और बड़ी बड़ी आलमारियों में सजे पुस्तकालय की ओर निहार रहा था। किसी महान लेखक की कोई महान कृति उनमें से निकाल-कर देखने की बात सोच रहा था। मगर, पुस्तकालय के एक सिरे से लेकर दूसरे तक मुझे महान ही महान नज़र आये। कहीं गेटे, कहीं रूसो, कहीं मेजिनी, कहीं नित्शे, कहीं शेक्सपियर, कहीं टॉल्सटॉय, कहीं ह्यूगो—मोपासाँ, कहीं डिकिन्स, स्पेन्सर, मेकाले, मिल्टन, मोलियर—उफ! इधर से उधर तक एक से एक महान ही तो थे। आखिर मैं किसके साथ चन्द मिनट मन-बहलाव करूँ यह निश्चय ही न हो सका। महानों के नाम ही पढ़ते-पढ़ते परेशान-सा हो गया।

इतने में मोटर का भों-भों सुनाई पड़ा। खिड़की से झाँका तो सुमेई रंग की कोई 'फियेट' गाड़ी दिखाई पड़ी। मैं सोचने लगा—शायद कोई मित्र पधारे हैं, अच्छा ही है। महानों से जान बची।

जब नौकर से सलाम कर आनेवाले का कार्ड दिया, तब मैं कुछ घबराया। उस पर शहर के पुलीस सुपरिंटेंडेंट का नाम छपा था। ऐसे बेवक्त ये कैसे आये?

पुलीस-पति भीतर आये। मैंने, हाथ मिलाकर एक चक्कर खानेवाली गद्दीदार कुर्सी पर उन्हें आसन दिया। वे व्यापारिक मुसकराहट से लैस होकर बोले—

"इस अचानक आगमन के लिए आप मुझे क्षमा करें।"

"आज्ञा हो।"—मैंने भी नम्रता से कहा।

उन्होंने पाकेट से डायरी निकाली, डायरी से एक तस्वीर—"देखिये इसे। ज़रा बताइये तो आप पहचानते हैं, इसको ?"

'हाँ, पहचानता तो हूँ।" ज़रा सहमते हुए मैंने बताया।

"इसके बारे में मुझे आपसे कुछ पूछना है।"

"पूछिये।"

"इसका नाम क्या है ?"

"लाल। मैं इसी नाम से बचपन ही से इसे पुकारता आ रहा हूँ। मगर, यह पुकारने का नाम है। एक नाम कोई और है, सो मुझे स्मरण नहीं।"

"कहाँ रहता है यह ?"—सुपरिंटेंडेंट ने पुलिस की धूर्त-दृष्टि से मेरी ओर देखकर पूछा।

"मेरे बँगले के ठीक सामने, एक दोमंजिला कच्चा-पक्का घर है, उसी में वह रहता है। वह है और उसकी बूढ़ी माँ।"

"बूढ़ी का नाम क्या है ?"

"जानकी।"

"और कोई नहीं है क्या इसके परिवार में ? दोनों का यापण-पोषण कौन करता है ?"

"सात-आठ वर्ष हुए, लाल के पिता का देहान्त हो गया।

अब उस परिवार में वह और उसकी माता ही बचे हैं। उसका पिता जब तक जीवित रहा बराबर मेरी जमीन्दारी का मुख्य मैनेजर रहा। उसका नाम रामनाथ का। वही मेरे पास कुछ-हजार रुपये जमा कर गया था, जिससे अब तक उनका खरचा-बरचा चल रहा है। लड़का कालेज में पढ़ रहा है। जानकी को आशा है, वह साल-दो-साल बाद कमाने और परिवार को सँभालने लगेगा। मगर,—क्षमा कीजिये, क्या मैं यह पूछ सकता हूँ कि आप उसके बारे में क्यों इतनी पूछताछ कर रहे हैं ?"

"यह तो मैं आपको नहीं बता सकता, मगर इतना आप समझ लें, यह सरकारी काम है। इसीलिए आज मैंने आपको इतनी तकलीफ दी है।"

"अजी, इसमें तकलीफ की क्या बात है। हम तो सात पुश्त से सरकार के फरमाबरदार हैं। और कुछ, आज्ञा...।"

"एक बात और", पुलीस-पति ने गम्भीरता से, धीरे से कहा—"मैं मित्रता से आपसे निवेदन करता हूँ। आप इस परिवार से ज़रा सावधान और दूर रहें। फिलहाल इससे अधिक मुझे कुछ कहना नहीं।"

२

"लाल की माँ!" एक दिन जानकी को बुलाकर मैंने समझाया—"तुम्हारा लाल आजकल क्या पाजीपना करता है ? तुम उसे केवल लाड प्यार ही करती हो न ? हूँ; भोगोगी।"

"क्या है बाबू ?" उसने कहा—"लाल क्या करता है ? मैं तो उसे कोई भी बुरा काम करते नहीं देखती।"

"बिना किये ही तो सरकार किसी के पीछे पड़ती नहीं। हाँ लाल की माँ, बड़ी धर्मात्मा, विवेकी और न्यायी सरकार है यह। जरूर तुम्हारा लाल कुछ करता होगा।"

"माँ ! माँ !!" पुकारता हुआ उसी समय, लाल भी आया। लंबा, सुडौल, सुन्दर, तेजस्वी।

"माँ !" उसने मुझे नमस्कार कर जानकी से कहा—"तू यहाँ भाग आयी है। चल तो मेरे कई सहपाठी वहाँ खड़े हैं। उन्हें चटपट कुछ जलपान करा दो। फिर हम घूमने जायगे।"

"अरे !" जानकी के चेहरे की झुर्रियाँ चमकने लगीं, वह काँपने लगी, उसे देखकर—"तू आ गया, लाल ! चलती हूँ भैये ! पर देख तो, तेरे चाचा क्या शिकायत कर रहे हैं। तू क्या पाजीपना करता है, बेटा ?"

"क्या है चाचाजी ?" उसने सविनय, सुमधुर स्वर से मुझसे पूछा—"मैंने क्या अपराध किया है ?"

"मैं तुमसे नाराज़ हूँ लाल !"—मैंने गम्भीर स्वर में कहा।

"क्यों चाचाजी ?"

"तुम बहुत बुरा करते हो, जो सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र करनेवालों के साथी हो। हाँ, हाँ—तुम हो। देखो लाल की माँ; इसके चेहरे का रंग उड़ गया। यह सोचकर कि यह खबर मुझे कैसे मिली !"

सचमुच एक बार उसका खिला हुआ रंग ज़रा मुरझा गया, मेरी बातों से। पर तुरन्त ही वह सँभला।

"आपने गलत सुना है, चाचाजी। मैं किसी षड्यन्त्र में नहीं। हाँ, मेरे विचार स्वतन्त्र अवश्य हैं। मैं ज़रूरत-बेज़रूरत जिस-तिस के आगे उबल अवश्य उठता हूँ, देश की दुरवस्था पर उबल उठता हूँ, इस पशु-हृदया परतन्त्रता पर।"

"तुम्हारी ही बात सही, तुम षड्यन्त्र में नहीं, विद्रोह में नहीं, पर यह बकबक क्यों? इससे फ़ायदा? तुम्हारी इस बकबक से न तो देश की दुर्दशा दूर होगी और न उसकी पराधीनता। तुम्हारा काम पढ़ना है—पढ़ो। इसके बाद कर्म करना होगा, परिवार और देश की मर्यादा बचानी होगी। तुम पहले अपने घर का उद्धार तो कर लो, तब सरकार के सुधार का विचार करना।"

उसने नम्रता से कहा—"चाचाजी, क्षमा कीजिये। इस विषय मे मैं आपसे विवाद करना नहीं चाहता।"

"चाहना होगा, विवाद करना होगा। मै केवल चाचाजी नहीं, तुम्हारा बहुत कुछ हूँ। तुम्हें देखते ही मेरी आँखो के सामने रामनाथ नाचने लगते हैं। तुम्हारी बूढ़ी माँ, घूमने लगती हैं। भला मै तुम्हें बे हाथ होने दे सकता हूँ? इस भरोसे न रहना।"

"इस पराधीनता के विवाद मे, चाचाजी, मैं और आप दो भिन्न सिरों पर हैं। आप कट्टर राज-भक्त, मैं कट्टर राज-विद्रोही। आप पहली बात को उचित समझते हैं, कुछ कारणो से; मैं दूसरी को, दूसरे कारणों से। आप अपना पथ छोड़ नहीं

सकते—अपनी प्यारी कल्पनाओं के लिए। मैं भी अपना नहीं छोड़ सकता।"

"तुम्हारी कल्पनाएँ क्या हैं? सुनूँ भी! ज़रा मैं भी जान लूँ कि अब के लड़के, कालेज की गरदन तक पहुँचते-पहुँचते कैसे-कैसे हवाई किले उठाने के सपने देखने लगते हैं। जरा मैं भी सुनूँ— बेटा!"

"मेरी कल्पना यह है कि, जो व्यक्ति, समाज या राष्ट्र किसी अन्य व्यक्ति समाज या राष्ट्र के नाश पर जीता हो—उसका सर्वनाश हो जाय।"

जानकी उठकर बाहर चली।—"अरे, तू तो जमकर चाचा से जूझने लगा।" वहाँ चार बच्चे बेचारे दरवाजे पर खड़े होंगे, लड़ तू, मैं जाती हूँ।" उसने मुझसे कहा—"समझा दो बाबू, मैं तो आप ही नहीं समझती, फिर इसे क्या समझाऊँगी।" उसने फिर लाल की ओर देखा—"चाचा जो कहें मान जा बेटा। यह तेरे भले ही की कहेंगे।"

वह बेचारी, कमर झुकाये उस साठ बरस की वय में घूँघट सँभाले, चली गयी। उस दिन उसने मेरी और लाल की बातों की गंभीरता नहीं समझी।

"मेरी कल्पना यह है कि··" उत्तेजित स्वर से लाल ने कहा—"ऐसे दुष्ट, नाशक, व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के सर्वनाश में मेरा भी हाथ हो।"

'तुम्हारे हाथ दुर्बल हैं; उनसे; जिनसे तुम पंजा लेने जा रहे हो। चर्र-मर्र हो उठेंगे। नष्ट हो जायँगे।"

"चाचाजी, नष्ट हो जाना तो यहाँ का नियम है। जो सवाँरा गया है, वह बिगड़े ही गा। हमें दुर्बलता के डर से अपना काम नहीं रोकना चाहिए। कर्म के समय हमारी भुजाएँ दुर्बल नहीं, भगवान् की सहस्र भुजाओं की सखी हैं।"

"तो, तुम क्या करना चाहते हो ?"

"जो भी मुझसे हो सकेगा, करूँगा।"

"षड्यन्त्र··?"

"जरूरत पड़ी तो जरूर··"

"विद्रोह··?"

"हाँ, अवश्य !"

"हत्या··?"

'हाँ—हाँ—हाँ –।"

"बेटा, तुम्हारा माथा, न-जाने कौन कितब पढ़ते पढ़ते बिगड़ रहा है। सावधान !"

३

मेरी धर्मपत्नी और लाल की माँ, एक दिन बैठी हुई बातें कर रही थीं कि मैं पहुँच गया। कुछ पूछने के लिए कई दिनो से मैं उसकी तलाश में था।

"क्यों लाल की माँ ! लाल के साथ किसके लड़के आते है, तुम्हारे घर में ?"

"मैं क्या जानूँ बाबू" उसने सरलता से कहा—"मगर वे सभी मेरे लाल ही की तरह प्यारे मुझे दिखते हैं। सब लापर्वाह।

वे इतना हँसते, गाते और हो हल्ला मचाते हैं, कि मैं मुग्ध हो जाती हूँ।"

मैंने एक ठण्ढी साँस ली—"हूँ, ठीक कहती हो। वे बातें कैसी करते हैं? कुछ समझ पाती हो?"

"बाबू, वे लाल की बैठक में बैठते हैं। कभी-कभी जब मैं उन्हें कुछ खिलाने-पिलाने जाती हूँ, तब वे बड़े प्रेम से मुझे 'माँ' कहते हैं। मेरी छाती फूल उठती है—मानो वे मेरे ही बच्चे हैं।"

"हूँ..." मैंने फिर साँस ली।

"एक लड़का उनमें बहुत ही हँसोड़ है। खूब तगड़ा और बली दिखता है। लाल कहता था, वह डण्डा लड़ने में, दौड़ने में, घूँसेबाजी में, खाने में, छेड़खानी करने और हो-हो हा-हा कर हँसने में समूचे कालेज में फर्द है। उसी लड़के ने एक दिन, जब मैं उन्हें हलवा परस रही थी मेरे मुँह की ओर देखकर कहा—माँ! तू ठीक भारत-माता-सी लगती है। तू बूढ़ी, वह बूढ़ी। उसका हिमालय उजला है, तेरे केश। हाँ, मैं नक्शे से साबित करता हूँ—तू भारत-माता है। सर तेरा हिमालय, माथे की दोनों गहरी, बड़ी, रेखाएं गंगा और यमुना। यह नाक विन्ध्याचल, दाढ़ी कन्याकुमारी तथा छोटी-बड़ी झुर्रियाँ-रेखाएँ भिन्न-भिन्न पहाड़ और नदियाँ हैं। जरा पास आ मेरे। तेरे केशों को पीछे से आगे—बाएँ कन्धे पर लहरा दूँ। यह बर्मा बन जायगा। बिना उसके भारत-माता का शृंगार शुद्ध न होगा।"

जानकी उस लड़के की बातें सोच गद्गद हो उठी 'बाबू, ऐसा ढीठ लड़का। सारे बच्चे हँसते रहे और उसने मुझे पकड़,

मेरे बालों को बाहर कर अपना बर्मा तैयार कर लिया। कहने लगा—देख, तेरा यह दाहिना कान कच्छ की खाड़ी है—बंबई के आगे वाली, और यह बाँयाँ—बंगाल की खाड़ी। माँ, तू सीधा मुँह करके जरा खड़ी हो। मैं तेरी ठुड्ढी के नीचे, उससे दो अंगुल के फासले पर, हाथ जोड़कर घुटनों पर बैठता हूँ। दाढ़ी तेरी कन्या कुमारी—हा हा हा हा!—और मेरे जुड़े, जरा तिरछे, हाथ सीलोन—लंका!—हा हा हा हा!!—बोल, भारत माता की जय।"

"सब लड़के ठहका लगा कर हँसने लगे। वह घुटने टेककर, हाथ जोड़कर, मेरे पाँवों के पास बैठ गया। मैं हक्की-बक्की-सी हँसनेवालों का मुँह निहारने लगी। बाबू, वे सभी बच्चे मेरे 'लाल' हैं, सभी मुझे 'माँ'—गाकर—कहते हैं।"

उसकी सरलता मेरी आँखों में आँसू बनकर छा गयी। मैंने पूछा—"लाल की माँ! और भी वे कुछ बातें करते हैं? लड़ने की, झगड़ने की, गोला गोली या बन्दूक की?"

"अरे बाबू" उसने मुसकराकर कहा—"वे सभी बातें करते हैं। उनकी बातों का कोई मतलब थोड़े ही होता है। सब जवान हैं, लापर्वाह हैं, जो मुँह में आता है, बकते हैं। कभी-कभी तो पागलों-सी बातें करते हैं। महीना भर पहले एक दिन लड़के बहुत उत्तेजित थे। वे जब बैठक में बैठकर गलचौर करने लगते हैं, तब कभी-कभी उनका पागलपन सुनने के लोभ से, मैं दरवाजे से सट और छिपकर खड़ी हो जाती हूँ।"

"न जाने कहाँ, लड़कों को सरकार पकड़ रही है। मालूम

नहीं, पकड़ती भी है या वे योंही गप हाँकते थे। मगर उस दिन वे यही बक रहे थे। कहते थे—पुलीसवाले केवल सन्देह पर भले आदमियों के बच्चों को त्रास देते हैं, मारते हैं, सताते हैं। यह अत्याचारी पुलीस की नीचता है। ऐसी नीच शासन-प्रणाली को स्वीकार करना, अपने धर्म को, कर्म को, आत्मा को, परमात्मा को भुलाना है—धीरे-धीरे घुलाना, मिटाना है।"

"एक ने, उत्तेजित भाव से, कहा—अजी, ये परदेशी कौन लगते हैं हमारे; जो हमें वरबस, राज-भक्त बनाये रखने के लिए, हमारी छाती पर तोप का मुँह लगाये, अड़े और खड़े हैं? उफ! इस देश के लोगों की हिये की आँखें मुँद गई हैं, तभी तो इतने जुल्मों पर भी आदमी, आदमी से डरता है। ये लोग शरीर की रक्षा के लिए अपनी अपनी आत्मा की चिता सँवारते फिरते हैं। नाश हो इस परतन्त्रवाद का!"

"दूसरे ने कहा—लोग ज्ञानी न हो सकें, इसलिए इस सरकार ने हमारे पढ़ने-लिखने के साधनो को अज्ञान से भर रखा है। लोग वीर और स्वाधीन न हो सकें इसलिए अपमान-जनक और मनुष्यता नीति-मर्दक कानून गढ़े हैं। गरीबों को चूसकर, सेना के नाम पर, पले हुए पशुओं को शराब से, कबाब से, मोटा-ताजा रखती है, यह सरकार। धीरे-धीरे जोंक की तरह हमारे देश का धर्म, प्राण और धन चूसती चली जा रही है, यह लूटक-शासन-प्रणाली। नाश हो इस प्रणाली का! इस प्रणाली की तसवीर सरकार का!"

"तीसरा, वही बंगड़, बोला—सब से बुरी बात यह है, जो

सरकार रोब से—"सत्तावनी' रोब से—धाक से, धाँधली से, धुआँ से, हम पर शासन करती है। यह, आँखे खोलते ही, कुचल-कुचलकर, हमें दब्बू, कायर, हतवीर्य, बनाती है। और किस लिए जरा सोचो तो! मुट्ठी भर मनुष्यो को अरुण, वरुण और कुबेर बनाये रखने के लिए। मुट्ठी-भर मनचले सारे संसार की मनुष्यता की मिट्टी पलीत करें, परमात्मा-प्रदत्त स्वाधीनता का संहार करें—छिः! नाश हो ऐसे मनचलों का!"

"ऐसे ही अण्ट-सण्ट ये बातूनी बका करते हैं बाबू। जभी चार छोकरे जुड़े, तभी यही चर्चा। लाल के साथियो का मिजाज भी, उसी-सा, अल्हड़-बिल्हड़ मुझे मालूम पड़ता है। ये लड़के ज्यो-ज्यों पढ़ते जा रहे है, त्यों-त्यों बकबक में बढ़ते भी जा रहे है।"

"यह बुरा है, लाल की माँ!" मैंने गहरी साँस ली।

४

जमीन्दारी के कुछ जरूरी काम से, चार-पाँच दिनो के लिए बाहर गया था। लौटने पर बँगले में घुसने से पूर्व लाल के दरवाजे पर जो नजर पड़ी तो वहाँ एक भयानक सन्नाटा-सा नजर आया। जैसे घर उदास हो, रोता हो।

भीतर आने पर मेरी धर्मपत्नी मेरे सामने उदास-मुख खड़ी हो गयी।

"तुमने सुना?"

"नहीं तो, कौन-सी बात?"

"लाल की माँ पर भयानक विपत्ति टूट पड़ी है।" मैं कुछ-

कुछ समझ गया, फिर भी, विस्तृत विवरण जानने का उत्सुक हो उठा—"क्या हुआ ? जरा साफ साफ बताओ।"

"वही हुआ, जिसका तुम्हें भय था। कल पुलिस की एक पलटन ने लाल का घर घेर लिया था। बारह घण्टे तक तलाशी हुई। लाल, उसके बाहर पन्द्रह साथी, सभी पकड़ लिये गये हैं। सभी लड़कों के घरों की तलाशी हुई है। सब के घर से भयानक भयानक चीजें निकली हैं।"

"लाल के यहाँ···?"

"उसके यहाँ भी दो पिस्तौल, बहुत से कारतूस और पत्र पाये गये हैं। सुना है, उन पर हत्या, षड्यन्त्र, सरकारी राज्य उलटने की चेष्टा, आदि अपराध लगाये गये हैं।"

"हूँ" मैंने ठण्डी साँस ली—"मैं तो महीनों से चिल्ला रहा था कि यह लौंडा धोखा देगा। अब वह बूढ़ी बेचारी मरी। वह कहाँ है ? तलाशी के बाद तुम्हारे पास आई थी ?"

"जानकी मेरे पास कहाँ आई। बुलवाने पर भी कल नकार गई। नौकर से कहलाया—पराठे बना रही हूँ, हलुवा तरकारी अभी बनाना है। नहीं तो वे बिल्हड़ बच्चे हवालात में मुरझा न जायँगे। जेलवाले और उत्साही बच्चों की दुश्मन यह सरकार उन्हें भूखों मार डालेंगे, मगर मेरे जीते जी यह नहीं होने का।"

"वह पागल है, भोगेगी।" मैं दुःख से टूटकर एक चारपाई पर भहरा पड़ा। मुझे लाल के कर्मों पर घोर खेद हुआ।

इसके बाद, प्रायः एक वर्ष तक वह मुकदमा चला। कोई भी अदालत के कागज उलटकर देख सकता है। सी० आई०

डो० ने—और उसके मुख्य सरकारी वकील ने—उन लड़कों पर बड़े-बड़े दोषारोप किये। उन्होंने चारों ओर गुप्त समितियाँ स्थापित की थीं, उसके खर्च और प्रचार के लिए डाके डाले थे, सरकारी अधिकारियों के यहाँ रात में छापा मारकर, शस्त्र एकत्र किये थे, पलटन में उन्होंने बगावत फैलाने का प्रयत्न किया था। उन्होंने न जाने कहाँ, न जाने किस पुलीस के दारोगा को मारा था, और न जाने कहाँ, न जाने किस पुलीस सुपरिंटेंडेंट को। ये सभी बातें, सरकार की ओर से प्रमाणित की गईं।

उधर उन लड़कों की पीठ पर कौन था? प्रायः कोई नहीं। सरकार के डर के मारे पहले तो कोई वकील ही उन्हें नहीं मिल रहा था. फिर एक बेचारा मिला भी; तो, 'नहीं' का भाई। हाँ, उनको पैरवी मे सबसे अधिक परेशान वह बूढ़ो रहा करती। वह सुबह शाम उन बच्चो को—लोटा, थाली, जेवर आदि बेंच बेंचकर भोजन पहुँचाती। फिर वकीलो के यहाँ जाकर दाँत निपोरती, गिड़गिड़ाती, कहती—

"सब झूठ है। न जाने कहाँ से, पुलीस वालों ने ऐसी-ऐसी चीजें हमारे घरो से पैदा कर दी है। वे लड़के केवल बातूनी हैं—हाँ, मैं भगवान् का चरण छूकर कह सकती हूँ। तुम जेल में जाकर देख आओ वकील बाबू! भला वे फूल से बच्चे हत्या कर सकते हैं?"

उसका तन सूखकर काँटा हो गया, कमर झुककर धनुष-सी हो गई, आँखे निस्तेज; मगर उन बच्चों के लिए दौड़ना, हाय हाय करना, उसने बन्द न किया। कभी-कभी सरकारी नौकर, पुलीस

या वाडर झुँझलाकर उसे झिड़क देते, धकिया देते। तब वह खड़ी हो जाती छड़ी के सहारे कमर सीधी कर—"अरे अरे! तुम कैसे जवान हो, कैसे आदमी हो। मैं तो उन भोले बच्चों के लिए दौड़ती-मरती हूँ और तुम मुझे धक्के दे रहे हो! मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, भैया?"

उसको अन्त तक यही विश्वास रहा कि यह सब पुलीस की चालबाजी है। अदालत में जब दूध का दूध और पानी का पानी किया जायगा, तब वे बच्चे जरूर बे-दाग छूट जायँगे। वे फिर उसके घर में लाल के साथ आवेंगे। हा-हा-हो-हो करेंगे। उसे 'माँ' कहकर पुकारेंगे।

मगर, उस दिन उसकी कमर टूट गयी, जिस दिन ऊँची अदालत ने भी, लाल को, उस बंगड़ लठैत को तथा दो और लड़कों को फाँसी और दस को दस वर्ष से सात वर्ष तक की कड़ी सजाएँ दीं।

वह अदालत के बाहर झुकी खड़ी थी। बच्चे बेड़ियाँ बजाते, मस्ती से झूमते, बाहर आये। सबसे पहले उस बंगड़ की नजर उस पर पड़ी—

"माँ!" वह मुसकराया—"अरे, हमें तो हलुवा खिला-खिलाकर तूने गधे-सा तगड़ा कर दिया है ऐसा कि, फाँसी की रस्सी टूट जाय और हम अमर के अमर बने रहें। मगर तू स्वयं सूखकर काँटा हो गई है। क्यों पगली—तेरे लिए घर में खाना नहीं है क्या?'

"माँ!" उसके लाल ने कहा—"तू भी जल्द वहीं आना,

जहाँ हम लोग जा रहे हैं। यहाँ से थोड़ी देर का रास्ता है माँ! एक साँस में पहुँचेगी। वहीं, हम स्वतंत्रता से मिलेंगे। तेरी गोद में खेलेंगे। तुझे कन्धे पर उठा कर इधर से उधर दौड़ते फिरेंगे। समझती है? वहाँ बड़ा आनन्द है!"

"आवेगी न माँ?"—बंगड़ ने पूछा।

"आवेगी न माँ?" लाल ने पूछा।

"आवेगी न माँ?" फाँसी दण्ड-प्राप्त दो दूसरे लड़कों ने भी पूछा।

और वह बकर-बकर उनका मुँह ताकती रही—"तुम कहाँ जाओगे पगलो?"

जब से लाल और उसके साथी पकड़े गये, तब से शहर या मुहल्ले का कोई भी आदमी लाल की माँ से मिलने मे डरता था। उसे रास्ते में देखकर जान-पहचानी बगलें झाँकने लगते। मेरा स्वयं अपार प्रेम था उस बेचारी बूढ़ी पर; मगर मैं भी बराबर दूर ही रहा। कौन अपनी गरदन मुसीबत में डालता, विद्रोही की माँ से सम्बन्ध रखकर?

उस दिन, ब्यालू करने के बाद कुछ देर के लिए पुस्तकालय-वाले कमरे में गया। वहीं, किसी महान् लेखक की कोई महान् कृति क्षण भर देखने के लालच से मैंने मेज़िनी की एक जिल्द निकालकर उसे खोला। उसके पहले ही पन्ने पर पेंसिल की लिखावट देखकर चौंका। ध्यान देने पर पता चला, लाल का वह हस्ताक्षर था। मुझे याद पड़ गई। तीन बरस पूर्व, उस पुस्तक को मुझसे माँगकर, उस लड़के ने पढ़ा था।

एक बार मेरे मन में बड़ा मोह उत्पन्न हुआ, उस लड़के के लिए। उसके वफादार पिता रामनाथ की दिव्य और स्वर्गीय तसवीर मेरी आँखों के आगे नाच गई। लाल की माँ पर उस पाजी के सिद्धान्तों, विचारों या आचरणों के कारण जो वज्रपात हुआ था, उसको एक ठेस मुझे भी, उसके हस्ताक्षर को देखते ही, लगी। मेरे मुँह से एक गम्भीर, लाचार, दुर्बल साँस निकलकर रह गई।

पर, दूसरे ही क्षण पुलीस सुपरिंटेंडेंट का ध्यान आया। उसकी भूरी, सुहावनी, अमानवी आँखें मेरी, आप सुखी तो जगसुखी, आँखों में वैसे ही चमक गई जैसे ऊजड़ गाँव के सिवान में कभी-कभी भुतही चिनगारी चमक जाया करती है। उसके रूखे फौलादी हाथ—जिनमें लाल की तसवीर थी—मानो मेरी गरदन चाँपने लगे। मैं मेज पर से 'इरेज़र' (रबर) उठाकर उस पुस्तक पर से उसका नाम उधेड़ने लगा।

इसी समय मेरी पत्नी के साथ लाल की माँ वहाँ आई। उसके हाथ में एक पत्र था।

"अरे ?" मैं अपने को रोक न सका—"लाल की माँ ! तुम तो बिलकुल पीली पड़ गई हो। तुम इस तरह मेरी ओर निहारती हो, मानो कुछ देख ही नहीं रही हो। यह, हाथ में क्या है ?"

उसने चुपचाप पत्र मेरे हाथ में दे दिया। मैंने देखा उस पर.......जेल की मुहर थी। सजा सुनाने के बाद वह वहीं भेज दिया गया था, यह मुझे मालूम था।

मैं पत्र निकालकर पढ़ने लगा। वह उसकी अन्तिम चिट्ठी थी। मैंने कलेजा रूखा कर, उसे पढ़ दिया।

"माँ,

जिस दिन तुम्हे यह पत्र मिलेगा उसके ठीक सवेरे मैं, बाल अरुण के किरण-पथ पर चढ़कर, उस ओर चला जाऊँगा। मैं चाहता तो अन्त समय तुमसे मिल सकता था; मगर इससे क्या फायदा ? मुझे विश्वास है तुम मेरी जन्म-जन्मान्तर की जननी हो, रहोगी ! मैं तुमसे दूर कहाँ जा सकता हूँ ? माँ ! जब तक पवन साँस लेता है, सूर्य चमकता है, समुद्र लहराता है, तब तक कौन मुझे तुम्हारी करुणामयी गोद से दूर खींच सकता है ?

दिवाकर थमा रहेगा; अरुण रथ लिये जमा रहेगा; मैं, बंगड़, वह सभी तेरे इन्तजार में रहेंगे।

हम मिले थे, मिले हैं, मिलेंगे—हाँ, माँ, ! तेरा—'लाल'।"

काँपते हाथ से, पढ़ने के बाद पत्र को मैंने उस भयानक लिफाफे में भर दिया। मेरी पत्नी की विकलता हिचकियो पर चढ़कर कमरे को करुणा से कँपाने लगी। मगर वह जानकी ज्यों की त्यों, लकड़ी पर झुकी, पूरी खुली और भावहीन आँखों से मेरी ओर देखती रही। मानो वह उस कमरे में थी ही नहीं।

क्षण भर बाद हाथ बढ़ाकर, मौन भाषा में, उसने पत्र माँगा। और फिर, बिना कुछ कहे, कमरे के—घरके—फाटक के बाहर हो गई, डुगुर, डुगुर, लाठी टेकती हुई।

इसके बाद शून्य-सा होकर मैं धम से कुर्सी पर गिर पड़ा।

माथा चक्कर खाने लगा। उस पाजी लड़के के लिए नहीं, इस सरकार की क्रूरता के लिए भी नहीं—उस बेचारी, भोली, बूढ़ी जानकी—लाल की माँ के लिए। आह वह कैसी स्तब्ध थी। उतनी स्तब्धता किसी दिन प्रकृति को मिलती, तो आँधी आ जाती। समुद्र पाता, तो बौखला उठता।

जब एक का घण्टा बजा, मैं ज़रा सगबगाया। ऐसा मालूम पड़ने लगा मानों हरारत पैदा हो गई है—माथे में, छाती में, रग-रग में। पत्नी ने आकर कहा—"बैठे ही रहोगे, सोओगे नही?" मैंने इशारे से उन्हे जाने को कहा।

फिर, मेज़िनी की जिल्द पर नजर गई। उसके ऊपर पड़े रबर पर भी। फिर, अपने सुखों की जमीन्दारी की, धनिक-जीवन की और उस पुलिस अधिकारी की निर्दय, नीरस, निस्सार आँखों की स्मृति कलेजे में कम्पन कर गई! फिर रबर उठाकर, मैंने उस पाजी का पेंलिस-खचित नाम, पुस्तक की छाती पर से मिटा डालना चाहा।

"माँ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ!"

मुझे सुनाई पड़ा। ऐसा लगा, गोया लाल की माँ कराह रही है। मैं रबर हाथ में लिये दहलते दिल से खिड़की की ओर बढ़ा, लाल के घर की ओर देखने के लिए। पर चारों ओर अंधकार था, कुछ नहीं दिखाई पड़ा। कान लगाने पर कुछ सुनाई भी न पड़ा। मैं सोचने लगा भ्रम होगा। वह अगर कराहती होती तो एकाध आवाज और अवश्य सुनायी पड़ती। वह कराहने वाली औरत है भी नहीं। रामनाथ के मरने पर भी उस

तरह नहीं घिघियाई थी, जैसे साधारण स्त्रियाँ ऐसे अवसरों पर तड़पा करती हैं।

मैं पुनः उसी की बात सोचने लगा। वह उस नालायक के लिए क्या नहीं करती थी। खिलौना की तरह, आराध्य की तरह, उसे दुलारती और सँवारती फिरती थी, पर आह रे छोकरे!...

"माँऽऽऽँऽऽँ!"

फिर वही आवाज़! ज़रूर जानकी रो रही है, वैसे ही जैसे कुर्बानी के पूर्व गाय रोये। ज़रूर वही विकल, व्यथित, विवश बिलख रही है। हाय री माँ अभागिनी, वैसे ही पुकार रही है, जैसे वह प्राजा गाकर मचलकर, स्वर को खींचकर उसे पुकारता था।

अँधेरा धूमिल हुआ, फीका पड़ा, मिट चला, ऊषा पीली हुई, लाल हुई, अरुण रथ लेकर वहाँ—क्षितिज के उस छोर पर—आकर, पवित्र मन से, खड़ी हो गई। मुझे लाल के पत्र की याद आ गई।

"माँऽऽऽऽऽँ!"

मानो, लाल पुकार रहा था, मानो जानकी प्रतिध्वनि की तरह उसी पुकार को गा रही थी। मेरी छाती धक् धक् करने लगी। मैंने नौकर को पुकार कर कहा—

"देखो तो, लाल की माँ क्या कर रही है?"

जब वह लौटकर आया तब मैं—एक बार पुनः मेज़ और मेज़िनी के सामने खड़ा था। हाथ में रबर लिये—उसी—उसी उद्देश्य से। उसने घबड़ाये स्वर में कहा—

"हुजूर, उनकी तो अजीब हालत है। घर में ताला पड़ा है और वह दरवाजे पर पाँव पसारे हाथ में कोई चिट्ठी लिये, मुँह खोले, मरी बैठी हैं। हाँ, सरकार ! विश्वास मानिये, वह मर गई हैं। साँस बन्द है—आँखें खुली।"

३०२

(श्री विनोदशंकर व्यास)

दफा ३०२, खून का मुकदमा था ! नगर भर में इस हत्या की चर्चा थी। अभियुक्त, हथकड़ी-बेड़ी से लदा हुआ, कोर्ट के द्वार पर, लाल पगड़ी के शासन में खड़ा था।

शांतिप्रकाश ने चौंककर देखा—उसके नाम की ही पुकार हो रही थी। सिपाही लोग उसे धक्का देते हुए भीतर ले गये। वह अजायबघर के एक जन्तु की तरह देखा जाने लगा।

दो दिन कारावास में कटे थे, आज मुद्दालेह का बयान था। कठघरे में खड़ा अभियुक्त शांतिप्रकाश कितना भयानक हो गया था—देखने लायक दृश्य था ! उसकी सरस आखें कितनी गम्भीर हो गई थीं। आँखो में एक डरावना तेज था ! निर्भीकता से उसने जज को अपना लिखित बयान दिया जो इस तरह था—

× × × ×

मैं दरिद्रता की गोद में पला हूँ। सुख किसे कहते हैं, मैं नहीं जानता। मेरी माता का देहांत, जब मैं पाँच वर्ष का था तभी हो गया था। मेरे पिता नौकरी करते और मैं उन्हीं के साथ रहता था। पिता को छोड़ इस संसार मे मेरा कोई अपना न था। सब अपने दिन पूरे करके चले गये थे। पिताजी के जीवन का एकमात्र उद्देश्य था कि मै पढ़ लिख कर होनहार

बनूँ, मेरा भविष्य उज्ज्वल हो। उनके वेतन में से आधे से अधिक केवल मेरे पठन-पाठन में व्यय होता था। वृद्धावस्था में भी घोर परिश्रम करके २०) मासिक से अधिक वे पा ही न सके। मेरे सुख की कल्पना करके उन्होंने अपने सुख को मिट्टी में मिला दिया था।

इसी तरह कई वर्ष व्यतीत हो गये। मैं बड़े परिश्रम से अध्ययन करता रहा। एंट्रेंस पास हो गया था। उसी साल, न जाने कैसे व्यवस्था करके, पिता जी ने मेरा विवाह कर दिया था। अब, भोजन हम लोगों को अपने हाथ से न बनाना पड़ता था! किन्तु विवाह होने पर झंझट और भी बढ़ गई! २०) मासिक मे निर्वाह न हो पाता, अत एव रात्रि के समय भी पिताजी को एक जगह काम करने जाना पड़ता था। मुझ से उनका कष्ट देखा न जाता, किन्तु करता ही क्या? कोई उपाय न था!

मैंने एक दिन उनसे कहा—बाबूजी, अब तो मैं सयाना हो गया हूँ, एंट्रेंस भी पास कर चुका; आज्ञा दीजिये, तो कोई नौकरी कर लूँ।

उन्होंने बड़ी गम्भीरता से उत्तर दिया—बेटा, अभी तुम्हारा पढ़ने का समय है, नौकरी तुम्हें कहाँ मिलेगी? एंट्रेंस वालों को पंद्रह रुपये पर भी कोई नहीं पूछता। कम-से-कम बी० ए० तो पास कर लो, ताकि भविष्य में भली भाँति अपना निर्वाह कर सको।

मैं चुप हो गया। फिर कभी यह प्रश्न नहीं उठाया। मैं कालेज में पढ़ने लगा।

तीन वर्ष और समाप्त हो गये।

मेरी स्त्री अपने इस जीवन से संतुष्ट थी। जैसे उसे कोई लालसा हो न हो! पिताजी उसका बड़ा आदर करते थे। दरिद्रता के भीषण तांडव-नृत्य में भी वह हँसती हुई दिखाई देती थी। उसकी ऐसी मनोवृत्ति देखकर मैं मन ही-मन प्रसन्न होता था, अपने को भाग्यशाली समझता था!

उस वर्ष मैंने बी० ए० की परीक्षा दी थी, सफलता की पूर्ण आशा थी; किन्तु भगवान् से मेरा इतना सुख भी न देखा गया। एकाएक मेरे ऊपर वज्र गिर पड़ा। पिताजी बीमार पड़े, दो दिन की बीमारी में ही चल बसे!

अंतिम समय में उन्होंने मुझ से कहा—बेटा, मैं अपने इस सांसारिक जीवन की परीक्षा दे चुका, भगवान ने मुझे उत्तीर्ण कर दिया है—मैं जा रहा हूँ, तुम सुखी रहो।

वे चले गये। मेरे मन में दो बातों की कसक रह गई—एक तो वह मेरे पुत्र को न देख सके, जो उनकी मृत्यु के दो मास पश्चात् पैदा हुआ और दूसरी यह कि मैं अपने उपार्जित धन से उनकी कुछ सेवा न कर सका।

मेरे कष्टों ने अपना और भी भयंकर रूप बना लिया। पुत्र हुआ। दरिद्रता जीवन से परिहास कर रही थी। मेरी समझ में न आता था, क्या करूँ! घर में भोजन का प्रबन्ध न था। मेरी पत्नी की बड़ी ही शोचनीय दशा थी। शरीर पीला पड़ गया था, एक सूखा कंकाल मात्र बच गया था। मैंने उसके कुछ आभूषणों को बेचकर काम चलाया।

मैं बी० ए० पास हो गया था। कई स्कूलों और दफ्तरों में नौकरी के लिए मैंने प्रार्थना-पत्र भेजे थे, किन्तु परिणाम कुछ न हुआ। मैं बेकार कई महीने तक चेष्टा करता रहा। अंत में मुझे एक स्कूल में अध्यापक का स्थान मिला, वेतन ३०) मासिक था।

मैं बड़े परिश्रम से अध्यापन-कार्य करता रहा। कुछ लड़के मेरी पढ़ाई से असंतुष्ट थे। प्रधानाध्यापक और अन्य अध्यापकगण मेरी ओर से सदा उदासीन रहा करते थे। इसका मुख्य कारण था, मेरा फटा कोट, सिली हुई धोती और मैली टोपी! मेरी स्थिति ही ऐसी न थी कि मैं अपने जीवन में वस्त्रों द्वारा कुछ परिवर्तन कर डालता, इसलिए उन लोगों से हिल-मिल न सका। उनकी दृष्टि में रुखाई देखकर मुझे साहस भी न होता था।

छः मास के बाद मुझे स्कूल छोड़ देने के लिए सूचना मिली। कारण यह बतलाया गया कि विद्यार्थी पढ़ाई से असंतुष्ट हैं।

विवश होकर मैंने स्कूल छोड़ दिया। अब कोई साधन न रहा। बहुत चेष्टा की, किन्तु इस बार तो निराश ही होना पड़ा। कहीं स्थान न मिला। पड़ोस के कुछ बालकों को पढ़ा कर चार-पाँच रुपये मिल जाते। आधे पेट और उपवास से दिन कटने लगे।

मनुष्य-मात्र से घृणा हो चली। कभी सोचता मनुष्य इतना भयानक क्यों है? लोग एक दूसरे को खा जाने के लिए

अस्तुत क्यों हैं ? मनुष्य ने ईर्ष्या, द्वेष, घृणा की रचना करके संसार में अपना विचित्र रूप प्रकट किया है। आह! संसार में प्रलय क्यों नहीं होता—आग क्यों नहीं लगती—लोग उसमें क्यों नहीं जल जाते—हाहाकार क्यों नहीं मचता कि मैं उसी में जल कर अपनी इस दुर्बल आह को बुझा कर शांत कर देता ?

ईश्वर में अश्रद्धा हो गई। नहीं-नहीं, विश्वास ही उठ गया! पुण्य और पाप में, नरक और स्वर्ग में, सन्देह होने लगा।

मेरी पत्नी बालक को गोद में ले कर रो रही थी। मैंने पूछा—तुम क्यों रोती हो ? मरना तो है ही, रो कर क्यों प्राण दिये जायँ ?

उसने सिसकते हुए कहा—आपके कष्टों को देख कर रोती हूँ।

मैंने कहा—संसार में मनुष्य कितना झूठ बोलते हैं! धन ही सब कुछ है। 'ईश्वर' नाम की कोई चीज नहीं है।

उसने च...च...च...करते हुए कहा—ऐसा न कहो; ईश्वर है। उस पर अविश्वास करना पाप है। यह तो हम लोग अपने पूर्व जन्म का फल भोग रहे हैं।

मैंने समझा, वह मूढ़ है। वह इन रहस्यों को क्या समझेगी। यदि ईश्वर होता, तो अन्याय न करता—निर्धन और धनी की श्रेणी न बनाता—एक को विलास और ऐश्वर्य का सम्राट् बना कर दूसरे को एक-एक दाने के लिए मुहताज न करता!

दिन-भर का उपवास था। उस दिन भोजन का कोई प्रबन्ध न था। बालक तक भूखा था। घर में कुछ बरतनों के सिवा कुछ न बचा था। पीतल का पुराना लोटा लेकर मैं बाजार में उसे बेचने के लिए गया। उसे बेचा, उस दिन का काम चला। रात-भर नींद न आई, हृदय में भीषण कोलाहल था। विचार करने लगा—

भीख भी नहीं माँग सकता! पढ़ा-लिखा आदमी हूँ, कैसे साहस होगा?

फिर?

आत्महत्या करूँ?

नहीं, वह कैसे हो सकता है? स्त्री और पुत्र फिर क्या करेंगे? उनका निर्वाह कैसे होगा?

तब उनका भी अन्त कर दूँ? किन्तु साहस नहीं! ऐसी स्त्री की—जिसने अपना सब सुख मेरे चरणों पर अर्पित कर दिया है—आह! उस देवी की हत्या मैं कैसे कर सकूँगा?

उन्मत्त विचारों में परस्पर उत्तर प्रत्युत्तर हुआ।

मैंने अपनी मृत्यु के अनेक उपायों का अन्वेषण किया। दरिद्रता का नृत्य देखते-देखते कभी मेरे नेत्रों के सम्मुख सड़कों और गलियों में पड़े अधमरे, अंधे, लँगड़े, लूले और भूखे भिखारियों के चित्र फिरने लगते। मैं तड़पने लगता। मेरा दम घुटने लगता। मैंने मन में फिर कहा—दरिद्रों के लिए कानून क्यों नहीं बनाया जाता कि उनको फाँसी दे दी जाय, बस उनके कष्टों का एक साथ ही अन्त हो जाय। मैंने निश्चय कर लिया

कि मैं ही उनकी हत्या करके कष्टों से छुड़ा दूँगा और अन्त में इसी अपराध में अपने को भी सांसारिक दुखों से मुक्त कर सकूँगा।

दूसरे दिन मैंने अपनी स्त्री से कहा—तुमको मेरे कारण कष्ट उठाना पड़ता है! सचमुच तुम्हारा अभाग्य था जो मेरे साथ तुम्हारा विवाह हुआ। तुम देवी हो, मै तुम्हारे योग्य न था।

मेरी आँखें छलछला उठीं।

उसने आश्चर्य से मेरी ओर देखते हुए कहा—आप ऐसी बातें क्यों करते हैं?

वह रोने लगी।

दिन बीत गया। रात हो चली थी। मैं घर से निकला। वह सो रही थी। मै जी भर कर उसके सरल सौंदर्य को देख लेने की चेष्टा कर रहा था। अन्तिम भेंट की कल्पना थी। हाथ मे छुरा लेकर घर से निकला। सन्नाटे में भटक रहा था।

गंगा तट पर आया। देखा, एक भिखारी पड़ा था। मैं वहीं खड़ा हो गया। मेरी नस-नस मे उन्माद का संचार हो रहा था। वह पड़ा हुआ कराहता था।

मैंने पूछा—क्या चाहते हो? क्या सुख चाहिये?

उसने बड़े धीमे स्वर मे कहा—बाबू, मर रहा हूँ, जान भी नही निकलती।

मैने तीखे स्वर में पूछा—जान देना चाहते हो?

उसने कहा—हाँ… न… हीं।

जान दे देने पर ही तुम्हें सुख मिलेगा—कहते हुए मैंने छुरे को उसकी छाती के पार कर दिया। वहाँ से खून से लथपथ हाथों से, आकर थाने में अपना बयान दिया, जो आपके सामने है। मैं अपराध को स्वीकार करता हूँ, मुझे इससे अधिक कुछ नहीं कहना है। मुझे फाँसी चाहिये, इसी में मुझे शांति मिलेगी।

हाँ, एक बात के लिए मैं कोर्ट से प्रार्थना करता हूँ कि वह मेरे बच्चे और स्त्री को भी फाँसी देकर मेरी अन्तिम अभिलाषा पूर्ण करे। संसार में मृत्यु से बढ़कर हम लोगों के लिए कोई सुख नहीं है। अतएव शीघ्र-से-शीघ्र हमारा निर्णय हो।

—शांतिप्रकाश बी० ए०

× × ×

जज ने ध्यान से उसके लिखित बयान को पढ़ा। उसने बार-बार अपनी बड़ी-बड़ी गंभीर आँखों से अपराधी की ओर देखा। सरकारी वकील खड़ा था। कोर्ट शांत था। प्रश्न आरंभ हुए। दर्शक उत्सुकता से आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे थे।

जज ने पूछा—हाँ, तो तुम मरना चाहते थे? क्यों?

और अब भी चाहता हूँ।

मरने के लिए क्या यही सर्वोत्तम उपाय तुमने सोचा था। मरने के और भी ढङ्ग थे। जज ने शासन की आँखों से देखते हुए कहा।

अभियुक्त चुपचाप अपनी खूनी आँखों से जज की तरफ देख रहा था; उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

क्या तुम उत्तर नहीं दोगे?—जज ने फिर पूछा।

मैं अपने बयान से अधिक कुछ नहीं कहना चाहता। मैं मृत्यु-दण्ड चाहता हूँ, मुझे फाँसी चाहिये, फाँसी! जीते-जागते कठपुतलो मुझे! व्यर्थ क्यो छेड़ते हो? धन की लालसा मे रक्त की धारा बहा देने वालो! मुझ से बहस न करो। ऐश्वर्य के कुंज में विहार करने वाले धनिको! तुम्हे क्या मालूम कंकड़ो पर सोने में कितनी व्यथा है—भूखे पेट की क्या हालत है? बस, बस, अब विलम्ब न करो। शांति से मुझे मरने दो। मेरा निर्णय करो।

सब आश्चर्य से इस विचित्र अभियुक्त को देख रहे थे।

जज आँखें गुरेरता हुआ देख रहा था। सरकारी वकील ने धीरे से कहा—हुजूर यह बड़ा भयानक मालूम पड़ता है।

प्रश्न बन्द हुए। जूरियो से जज ने सम्मति ली। अपने कमरे मे जा कर फैसला लिखा—बीस वर्ष के लिए काला पानी।

फाँसी नही हुई!

अभियुक्त ने फैसला सुनकर कर्कश स्वर में कहा—तड़पा-तड़पा कर मारने से अच्छा है कि एक ही बार मार डालो।

जज ने शेर की तरह गरज कर कहा—वहाँ तुम्हारे भोजन का प्रबन्ध सरकार कर देगी। चुप रहो।

सिपाहियों की ओर देखते हुए जज ने संकेत किया—ले जाओ इसे यहाँ से।

बेड़ी खनखनाई। सिपाहियों ने गरदन पर झटका देते हुए कहा—चल!

३

दस वर्ष के बाद—

शांतिप्रकाश पोर्ट ब्लेयर के पास, समुद्र-तट पर, पत्थरों के बाँध बना रहा था। फावड़ा रख कर पसीना पोंछते हुए, उसने एक बार समुद्र का भीषण हाहाकार देखा। किरणें डूब रही थीं। उस जगह और कोई कैदी न था। अन्धकार हो चला था। सब अपने झोपड़ों की तरफ लौटने लगे। सहसा पास के झुर-मुट से चिल्लाने का स्वर सुन पड़ा।

शांतिप्रकाश उधर दौड़ा। उसने देखा कि एक कुली एक स्त्री पर अत्याचार किया ही चाहता है। न जाने क्यों, उसका फावड़ा वेग से चल पड़ा। बेचारी स्त्री उस कुली के अत्याचार से मुक्त हो कर शांति-प्रकाश को देखने लगी—और वह उसे देखने लगा।

दूसरे ही क्षण स्त्री ने कहा—मेरे नाथ! मेरे स्वामी!

शांतिप्रकाश ने पूछा—गोमती! तुम हो? और किशोर कहाँ है?

स्त्री ने कहा—किशोर भूख से तड़प कर मर गया। उसका अंतिम संस्कार कैसे किया जाता, इसलिए उसके शव को झोंपड़ी में ही बन्द कर मैंने आग दी। मैं भी उसी अपराध के कारण [illegible] का दण्ड पाकर आई हूँ।

शांतिप्रकाश और गोमती की आँखों में जैसे आँसू सूख गये [illegible] भयानक मिलन बड़ा ही कठोर था।

शांतिप्रकाश ने विचार करते हुए कहा—अच्छा चलो, हम लोगों को भागना पड़ेगा। संभवतः यह आदमी मर गया है। तुम्हारी और किशोर की कथा बाद में सुनूँगा, पहले जीते रहने का प्रबन्ध करना पड़ेगा।

दोनो को उस धुंधले में किसी के आने का संदेह होने लगा। वे भाग चले। वे भागते-भागते फिर उसी समुद्र-तट पर आये।

दोनो हाँफ रहे थे। अब उनका पकड़ा जाना निश्चित था, क्योंकि पुलिस पास पहुँच चुकी थी।

शांतिप्रकाश ने निराश दृष्टि से एक बार गोमती की ओर देखा।

उसने भी आँखो की भाषा में कहा—हाँ।

दोनों, हाथ मे हाथ मिलाकर, समुद्र मे कूद पड़े।

— —

कुँवर साहब मर गये !

(श्री भगवतीचरण वर्मा)

पिताजी की डाँट, माताजी की विनय, श्रीमतीजी के आँसू और श्रीमानजी की अशक्तता मुझे रोक सकने में समर्थ न हो सकी। तीन दिन तक बुखार में पड़े रहने के बाद चौथे दिन सुबह के समय जैसे ही छोटे भाई ने हँसते हुए टेम्परेचर नारमल पर आने की खबर दी, वैसे ही केशव ने मुँह लटकाये हुए उसी दिन शाम के समय निकलने वाले कांग्रेस के जलूस की सूचना दी।

केशव के मुँह लटकाने का कारण था। उस दिन नेताओं के दिमाग में न जाने क्यों एकाएक यह ख्याल आ गया कि जलूस जरा सिविल लाइन्स की हवा खाय, या यों कहिए कि सिविल लाइन्स जलूस की हवा खाय। वैसे तो सरकार जानती थी कि जलूस निकलता है, जनता जानती थी कि जलूस निकलता है, और जलूस निकालने वाले जानते थे कि जलूस निकलता है, पर बात यों हुई कि सिविल लाइन्स के बँगलों में नौकरों, सवारियों और कुत्तों से घिरे रहने वाले साहबों ने (हिन्दुस्तानी और गैर-हिन्दुस्तानी दोनों ही) कांग्रेस का जलूस न देखा था। कांग्रेस के नेता देशभक्त होने के साथ-साथ परोपकारी होने का भी दम भरते हैं, उन्हें उन साहबों पर दया

आई। बड़े-बड़े थियेटर, कार्निवाल, सरकस, सिनेमा, बाल-डान्स, फैन्सी ड्रेस बाल, घुड़दौड़ आदि-आदि उन लोगों ने देखे; अगर कुछ नहीं देखा तो कांग्रेस का जलूस। आखिर यह तमाशा भी तो वे लोग देख लें, इसी बात को ध्यान में रखकर कांग्रेस के नेताओं ने यह तै किया कि कुँआ प्यासे के पास चले, यानी जलूस सिविल लाइन्स चले। इसकी सूचना मिली सरकार को, और सरकार को कुछ बुरा लगा—बुरा लगने की बात भी थी। सरकार ने सोचा कि उसके परम भक्त, कृपापात्र, लायक, फरमाबरदार बेटों को देखना चाहिए लाट साहबों का जलूस जहाँ बैण्ड बजाते हुए तोपों, बन्दूकों, तलवारों से सजी हुई फौजें मार्च करती हैं, घोड़ों पर मूछें ऐंठते हुए अफसर छलाँगें मारते हैं (घोड़े छलाँग मारते हैं, इसीलिए उन घोड़ों पर सवार अफसर भी), फूलों से सजी हुई मोटरों पर कीमती पोशाकें पहने हुए रईस सोलह या आठ घोड़ों से खिंचने वाली स्टेटकोच के पीछे-पीछे रेंगते हैं और सड़क पर खड़े हुए खाकी वर्दी तथा लाल पगड़ी से सज्जित सिपाही जलूस देखने के लिए एकत्रित जन-समूह को गरदन में हाथ लगा कर बड़े प्रेम के साथ भाषा के चुने हुए शब्दों का प्रयोग करते हुए पीछे ठेलते हैं, न कि वे देखें कांग्रेस का जलूस जहाँ नंगे सिर, नंगे पैर, खद्दर की फटी धोती और फटा कुरता पहने हुए असभ्य बागी आयँ-बायँ-सायँ बकते हैं। बस जनाब, कांग्रेस के नेताओं ने कहा 'हम सिविल लाइन्स घूमेंगे', और सरकार ने कहा—"मियाँ औकात से रहो, तुम कँगल-टिरों की क्या मजाल कि सिविल लाइन्स में घूमो।"

कांग्रेस-नेताओं ने कहा कि, "हम तो आवेंगे ही"; सरकार ने कहा—'हम तुम्हें नहीं जाने देंगे', कांग्रेस-नेताओं ने कहा—"हम सत्याग्रह करेंगे"; सरकार ने कहा—"हम मारे डंडों के तुम्हारी खोपड़ी तोड़ देंगे।"—बस, इतनी-सी बात और तना-तनी हो गई। लेकिन इन सबका नतीजा भोगना पड़ेगा केशव को, क्योंकि नेता थोड़े ही डंडे खायेंगे, डंडे खायँगे केशव और उनके भाई-बन्द अन्य स्वयंसेवक। इसी लिए उसका मुँह उतरा हुआ था।

हाँ तो अखबारों में पढ़ा था कि लाठी-चार्ज होता है, पर लाठी-चार्ज होते न देखा था। मेरा भाग्य खुल गया। जिसे देखने को आँखें तरस रही थीं उसे देखने का मौका आ ही गया, फिर भला मैं कब चूकने वाला था। शाम के समय ताँगे पर लदकर मैं कांग्रेस-आफिस पहुँचा।

एक जबर्दस्त मजमा बँधा हुआ था। सैकड़ों स्वयंसेवक हाथ में तिरंगे झंडे लिये खड़े राष्ट्रीय गान गा रहे थे। मुख पर दृढ़ता थी और हृदयों में जोश। बीच-बीच में "महात्मा गांधी की जय!" "भारतमाता की जय!" के नारे बुलन्द होते थे।

जलूस चला, लेकिन लोगों ने मुझे साथ ले चलने से इनकार कर दिया। मैंने लाख कहा कि—मैंने कभी लाठी चार्ज नहीं देखा [illegible] मुझे भी साथ ले चलो,—पर किसी ने [illegible] —तुम कमजोर हो। दूसरे ने कहा, [illegible] क्योंकि अगर [illegible] तो तुम्हें [illegible] क्या रहा और

तुम इस हालत में हो कि दो लाठियों में ही बड़ी आसानी से शहीद हो सकते हो। लेकिन मैं शहीद होने को तैयार न था, इसलिए नहीं कि मैं मृत्यु से डरता हूँ, बल्कि इसलिए कि देश को मुझसे बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। अन्त में यह तय हुआ कि मैं कांग्रेस-आफिस मे बैठूँ और पुलिस की सूचनाएँ संकलित करता रहूँ।

(२)

मैं अकेला कांग्रेस-आफिस में बैठा हुआ था, और टेलीफोन से खबरें मिल रही थीं। घंटी बजी और टेलीफोन पर सुनाई पड़ा—प्रोसेशन··· रोड पर पहुँच गया है, यहाँ पर पुलिस-फोर्स रास्ता रोके खड़ी है, उन लोगों के पास डंडे हैं। सुपरिंटेंडेंट ने आज्ञा सुनाई कि प्रोसेशन आगे न बढ़े और पीछे लौट जाय। प्रोसेशन वालों ने सुपरिंटेंडेंट की आज्ञा मानने से इनकार कर दिया। इस पर सुपरिंटेंडेंट पुलीस ने लाठी चार्ज की आज्ञा दे दी है। लाठी चार्ज हो रहा है, जनता तितर-बितर हो गई है, केवल स्वयंसेवक जमीन पर बैठ गये है।

इसके थोड़ी देर बाद टेलीफोन पर फिर खबर मिली—स्वयंसेवक पिट रहे है और नेताओं की गिरफ्तारी हो रही है। एक ताज्जुब की बात है कि कुँवर कमल नारायण ने एकाएक आकर "भारत माता की जय!" बोली और वे भी गिरफ्तार कर लिये गये·····।—मेरे हाथ से रिसीवर छूट पड़ा, खबर अधूरी रह गई।

कुँवर कमल नारायण गिरफ्तार हो गये, हत्या करके नहीं,

पर फॉद के नहीं, वल्कि "भारत माता की जय!" बोल कर। मेरे लिए यह इस युग की सबसे आश्चर्यजनक बात थी। कुँवर कमल नारायण उन रईसों में एक हैं, जिनका काम है चौबीसों घंटे शराब के नशे में धुत रहना, बिना गाली बात न करना और जब मौका मिल जाय, ऐयाशी करना। उनके देशभक्त बन कर गिरफ्तार होने पर चाहे और किसी को आश्चर्य हो या न हो, पर मुझे उतना ही आश्चर्य हुआ, जितना बन्दर के अदरक खा लेने पर होता, या ख्वाजा हसन निजामी के हिन्दू बन जाने से होता।

फिर घंटी बजी,—सब के सब स्वयंसेवक गिरफ्तार हो गये, आज का प्रोग्राम "ओवर" हो गया।

मैं भी उठा, ताँगा मँगवा कर घर पहुँचा। मुझे देखते ही पिताजी ने अपना मुँह फेर लिया, माताजी ने एक दीर्घ निःश्वास के साथ आँखों से दो आँसू गिराये, श्रीमतीजी ने महावीर जी पर पाँच पैसे के बताशे चढ़ाये और श्रीमानजी पलँग पर लुढ़क पड़े।

आँखें लगी ही थीं कि किसी ने मेरे कमरे के किवाड़ों में धक्का दिया। बड़ी मुश्किल से उठा। किवाड़ खोले तो देखा कि केशव खड़ा है। एक अजब हालत थी; कपड़े फटे हुए, चेहरा पीला और पिंडलियाँ काँप रही थीं। मैंने केशव का हाथ पकड़ कर उसे अन्दर बुलाया।

केशव मेरा दूर का भाई होता है। बी० ए० पास करने के बाद जब नौकरी की तलाश में उसने अफसरों के पीछे इतनी

चहल-कदमी की कि उसका वजन एक मन से बढ़ कर डेढ़ मन हो गया, तब उसने कांग्रेस में नाम लिखाया। इस समय वह साधारण स्वयंसेवक से बढ़ कर स्वयं-सेवकों का नायक बन गया था और साल भर के अन्दर ही नेता बनने की सोच रहा था।

हाँफते हुए उसने कहा.—भाई एक गिलास पानी।

मैं खुद बीमार—नहीं, बीमारी से उठा हुआ था, फिर भी मैंने केशव को पानी दिया। जिस पलँग पर मैं पड़ा था, उस पर अब केशवदेव पैर फैलाये लेटे थे। पानी देते हुए मैंने कहा—कहो, क्या. हाल है ?

लेटे ही लेटे पानी पीकर उसने कहा—मार डाला····बदमाशों ने।

केशव की हालत देखकर कुछ दुःख होता था, कुछ हँसी आती थी। अपनी हँसी दबाते हुए मैंने कहा—तुम तो गिरफ़्तार हो गये थे। इस समय यहाँ कहाँ ?

—क्या बताऊँ, अभी बारह मील का रास्ता पैदल तै किये हुए चला आ रहा हूँ।

—यह कैसे ?—मै अपनी हसी अब अधिक न दबा सका।

केशव बिगड़ कर बोला.—यहाँ जान निकल गई और तुम्हें हँसी सूझती है। बदमाशों ने लारी पर लाद कर बारह मील की दूरी पर छोड़ दिया।

—पूरा हाल तो बताओ!

—हाल क्या बतलाऊँ। दो डंडे पड़े, इसके बाद गिरफ्तार हुआ। हवालात पहुँचा। वहाँ से एक लारी पर लादा गया और

सब लोगों के साथ छोड़ दिया गया जंगल में। लारी चल दी और हम लोगों को वापस आना पड़ा पैदल।

केशव का किस्सा समाप्त हुआ। एकाएक मुझे कुँवर कमल नारायण की याद आ गई। मैंने पूछा—तुम लोगों के साथ सुना है आज कुँवर कमल नारायण भी गिरफ्तार हुए थे।

केशव उछल पड़ा, मुँह पर छाई हुई मुर्दनी गायब हो गई। —अरे हाँ, अच्छी याद दिलाई। तो फिर कुँवर साहब का किस्सा आदि से सुनाऊँ?

और नहीं क्या!

केशव ने आरम्भ किया—कुँवर साहब के ड्राइवर का कहना है कि कुँवर साहब के यहाँ कल कुछ मेहमान आ गये थे। जितनी शराब थी, वह सब खतम हो गई। आज शाम के समय घर में एक बूँद नहीं और कुँवर साहब को उसकी बड़ी आवश्यकता, क्योंकि नशा उतर गया था।

शराब की इतनी तलब कि उन्हें मँगवा कर पीने की फुरसत न थी। कार पर बैठकर दूकान पर ही खरीद कर पीने के लिए चल दिये। इधर दूकान पर धरना बैठा हुआ था। लोगों ने लू लू बोली और कुँवर साहब ने कार सिविल लाइन्स की तरफ बढ़वा दी। रास्ते में जलूस मिला। कुँवर साहब को देखकर लोगों ने फिकरे कसे और कुँवर साहब ने गालियाँ दीं।.... रोड के चौराहे पर उस समय लाठी-चार्ज हो रहा था। कुँवर साहब ने कार रोक दी। उतर कर वे लाठी-चार्ज देखने लगे। कुछ देर तक उन्होंने यह तमाशा देखा। फिर वे एकाएक कप्तान

साहब के पास पहुँचे। उन्होंने कहा—कप्तान साहब ! आप इन निहत्थो को क्यो मार रहे है ? अपने आदमियों को रोक दीजिए।

कप्तान नया था, वह कुँवर साहब को पहचानता न था। उसने कहा—चुप रहो, तुम अपना काम देखो।

कुँवर साहब को बुरा लगा। पता नहीं उन्हें स्वयंसेवकों का पिटना अधिक बुरा लगा या कप्तान साहब का जवाब। उन्होंने आव देखा न ताव, गरज कर पुलिस वालो से कहा—इन लोगों पर लाठी चलाना बन्द करो।

एक क्षण के लिए पुलिस वाले अवाक् रह गये। लोगों ने जब देखा कि कुँवर कमल नारायण लाठी चलाने को बन्द करा रहे हैं, तब उन्हें आश्चर्य हुआ। उन्होंने नारे लगाये—महात्मा गान्धी को जय ? भारतमाता की जय ? और कुँवर साहब ने भी दुहराया—महात्मा गान्धी की जय !

इसी समय कप्तान साहब ने कुँवर साहब को गिरफ्तार कर लिया। लारी पर बिठला कर वे हवालात भेज दिये गये।

हम लोग भी हवालात भेजे गये। वहाँ कुँवर साहब से कोतवाल साहब की जो बातें हुई वे हमें मालूम हुईं। वे इस प्रकार है—

कोतवाल साहब ने कहा—कुँवर साहब आप यहाँ कैसे भूल पड़े ?

कुँवर साहब का मुख क्रोध से लाल था; कोतवाल साहब ने ताड़ लिया। बोले—मालूम होता है आप को प्यास लगी है।

कुँवर साहब ने अपना सिर हिलाकर 'हाँ' कहा।

व्हिस्की का एक पेग बरफ और सोडा के साथ कुँवर साहब के सामने पेश किया गया. एक घूँट में पूरा गिलास खाली करके कुँवर साहब ने गिलास लाने वाले की ओर देखा। कोतवाल साहब के इशारे पर दूसरा गिलास आया।

कुँवर साहब की जान मे जान आई।

कोतवाल साहब ने मौक़ा देखा। बोले—कुँवर साहब ! आप कैसे भूल पड़े ?

एक ठंडी साँस लेकर कुँवर साहब ने कहा—आज घर में शराब खतम हो गई थी. और प्यास जोर की थी ! शहर में दूकानों पर धरना था, इस लिए सिविल लाइन्स जा रहा था।

कोतवाल साहब ने कहा—क्या बतलाऊँ कुँवर साहब, इन कांग्रेस वालों ने तो नाक में दम कर रक्खा है। आप जानते हैं आज सिविल लाइन्स की दूकानों पर भी धरना देने आ रहे थे। जब रोका तो माने ही नहीं। अगर पीटे न जाते तो सिविल लाइन्स की शराब की दूकानों पर भी ये लोग धरना देते।

ऐसी बात है ?—कुँवर साहब ने चौथा पेग पीते हुए आश्चर्य से पूछा।

हाँ साहब ! अब बतलाइए, क्या किया जाय ? और आप हम लोगों को इन बदमाशों को पीटने से रोक रहे थे।

कुँवर साहब ने कोतवाल का हाथ पकड़ कर कहा—दोस्त, गलती हो गई, क्या बताऊँ, अब क्या हो सकता है ?

कुछ नहीं, आप कतई इसकी फिक्र न करें। घर जाकर आराम करें।

कुँवर साहब की कार बाहर खड़ी थी। उस पर लाद कर वे घर भेज दिये गये। उस समय कुँवर साहब करीब करीब एक बोतल व्हाइट हार्स की समाप्त कर चुके थे।

केशव ने कहानी समाप्त की और वह मेरी आलमारी मे रक्खे हुए फलों पर इस प्रकार झपटा जैसे भूखी बिल्ली चूहे पर झपटती है।

३

दूसरे दिन पत्रों में निकला—सुपरिंटेंडेंट साहब ने गलती से कुँवर कमल नारायण को सत्याग्रही समझकर गिरफ्तार कर लिया था। उस समय कुंवर कमल नारायण कुछ नशे में भी थे, नहीं तो सुपरिंटेंडेंट साहब को यह गलती करने का मौका न मिलता।

इस खबर को पढ़ कर हम लोग चार आदमी कुँवर कमल नारायण का ध्यान पत्रो मे निकले हुए समाचार की ओर आकर्षित करने के लिए पहुँचे। बँगले के बरामदे में कुँवर साहब बैठे हुए थे और उनके सामने पड़ी हुई मेज़ पर एक व्हाइट हार्स की खुली हुई बोतल, तीन-चार सोडा की बोतलें तथा एक शराब से भरा गिलास रक्खा था, और कुँवर साहब की नजर बाग में काम करनेवाली जवान मालिन पर थी। हम लोगो को देखते ही वह उठ खड़े हुए। उन्होंने आवाज दी—अबे ओ'' 'कलुआ, देख तो इन खद्दर पोशो को किसने बँगले मे घुस आने दिया? इनसे कह दे कि कुँवर साहब मर गये।

———

क़िस्मत

(श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान)

"भौजी, तुम सदा सफ़ेद धोती क्यों पहनती हो ?"

"मैं क्या बताऊँ, मुन्नी !"

"क्यों भौजी ! क्या तुम्हें अम्मा रंगीन धोती नहीं पहनने देती ?"

"नहीं मुन्नी ! मेरी क़िस्मत ही नहीं पहनने देती, अम्मा भी क्या करें ?"

"क़िस्मत कौन है, भौजी । वह भी क्या अम्मा की तरह तुम से लड़ा करती है और गालियाँ देती है ?"

सात साल की मुन्नी ने किशोरी के गले में बाँहें डाल कर पीठ पर झूलते हुए पूछा—"क़िस्मत कहाँ है भौजी ? मुझे भी बता दो ।"

सिल पर का पिसा हुआ मसाला कटोरी में उठाते हुए किशोरी ने एक ठंडी साँस ली और बोली—"क़िस्मत कहाँ है मुन्नी, क्या बताऊँ !"

आँचल से आँसू पोंछ कर किशोरी ने तरकारी बघार दी । खाना तैयार होने में अभी आधे घंटे की देर थी । इसी समय मुन्नी की माँ गरजती हुई चौके में आई और बोलीं—"दस, साढ़े दस बज रहे हैं, अभी तक खाना नहीं बना ! बच्चे, क्या

भूखे ही स्कूल चले जायँगे ? बाप रे बाप !! मै तो इस कुलच्छनी से हैरान हो गई । घर मे ऐसा कौन सा भारी काम है जो समय पर खाना भी नहीं तैयार होता ? दुनियाँ में सभी औरतें काम करती हैं या तू ही अनोखी काम करने वाली है ?"

एक साँस में, मुन्नी की माँ इतनी बातें कह गईं, और पटरा बिछा कर चौके में बैठ गईं। किशोरी ने डरते-डरते कहा—"अम्मा जी ! अभी तो नौ ही बजे हैं, आध घंटे में सब तैयार हो जाता है। तुम क्यों तकलीफ करती हो ?"

चिमटा खींच कर किशोरी को मारती हुई सास बोलीं—"तू सच्ची और मैं झूठी ? दस बार रांड से कह दिया कि ज़बान न लड़ाया कर, पर मुँह चलाये ही चली जाती है। तू भूली किस घमंड मे है ? तेरे सरीखी पचास तो मैं उँगलियों पर नचा दूँ। चल हट, निकल चौके से।

आँखें पोंछती हुई किशोरी चौके से बाहर हो गई। ज़रा सी मुन्नी अपनी माँ का यह कठोर व्यवहार विस्मय-भरी देखती रह गई। किशोरी के जाते ही वह भी चुप-चाप उसके पीछे चली। किन्तु तुरन्त ही माता की डाँट से वह लौट पड़ी।

इस घर मे प्रायः इसी तरह होता रहता था।

+ + +

बच्चे खाना खा कर समय से आध घंटा पहले ही स्कूल पहुँच गये। खाना बना कर मुन्नी की माँ हाथ धो रही थीं तब उनके पति रामकिशोर मुवक्किलों से किसी प्रकार छुट्टी पा कर घर आये। सुनसान घर देख कर बोले—"बच्चे कहाँ गये सब ?"

नथुने फुलाती हुई मुन्नी की माँ ने कहा—'स्कूल गये, और कहाँ जाते ? कितना समय हो गया कुछ खबर भी है ?

घड़ी निकाल कर देखते हुए रामकिशोर बोले—'अभी साढ़े नौ ही तो बजे है, मुझे कचहरी भी जाना है न ?''

मुन्नी की माँ तड़प कर बोलीं—''जरूर, तुमने सुन लिया होगा ? दुलारी बहू ने नौ कहा था और तुम साढ़े पर पहुँच गये तो इतना ही क्या कम किया ? तुम उसकी बात कभी झूठी होने दोगे ? मैं तो कहती हूँ कि इस घर में नौकर चाकर तक का मान-मुलाहिजा है पर मेरा नहीं। सब सच्चे और मैं झूठी।'' कह कर मुन्नी की माँ जोर से रोने लगीं।

—''मैं तो यह नहीं कहता कि तुम झूठी हो; घड़ी ही गलत हो गई होगी। फिर इसमें रोने की तो कोई बात नहीं है।''

कहते-कहते रामकिशोर जी स्नान करने चले गये। वे अपनी स्त्री के स्वभाव को अच्छी तरह जानते थे। किशोरी के साथ वह कितना दुर्व्यवहार करती है यह भी उन से छिपा न था। जरा जरा सी बात पर किशोरी को मार देना और गाली दे देना तो बहुत मामूली बात थी। यही कारण था कि बहू के प्रति उनका व्यवहार बड़ा ही आदर और प्रेमपूर्ण होता। किशोरी उन के पहले विवाह की पत्नी के एकमात्र बेटे की बहू थी। विवाह के कुछ ही दिन बाद निर्दयी विधाता ने बेचारी किशोरी का सौभाग्य-सिंदूर पोंछ दिया। उसके मायके में भी कोई न था। अभागिनी विधवा सर्वथा दया ही की पात्र थी। किंतु ज्यों ज्यों मुन्नी की माँ देखती कि रामकिशोर जी का व्यव-

हार बहू के प्रति अधिकाधिक स्नेह-पूर्ण होता जाता है त्यों-त्यों किशोरी के साथ उनका द्वेष भाव बढ़ता ही जाता। रामकिशोर अपनी इस पत्नी से बहुत बचते थे। इन सब बातों को जानते हुए भी वे किशोरी पर किये जाने वाले अत्याचारों को रोक न सकते थे। सौ की सीधी बात तो यह थी कि पत्नी के खिलाफ कुछ कह कर वे अपनी खोपड़ी के बाल नुचवाना न चाहते थे। इस लिये बहुधा वे चुप ही रह जाया करते थे।

आज भी जान गये कि कोई बात जरूर हुई है और किशोरी को ही भूखी-प्यासी पड़ा रहना पड़ेगा। इसलिए वे कचहरी जाने से पहले किशोरी के कमरे की तरफ गये और कहते गये—"भूखी न रहना बेटी! रोटी जरूर खा लेना, नहीं तो मुझे बड़ा दुःख होगा।"

"रोटी जरूर खा लेना, नहीं तो मुझे बड़ा दुःख होगा।" रामकिशोर का यह वाक्य मुन्नी की माँ ने सुन लिया। उनके सिर से पैर तक आग लग गई, मन ही मन उन्होंने सोचा—"इस चुड़ैल के साथ यह व्यवहार! कचहरी जाते-जाते इसको लाड़ कर गये, खाना खाने के लिए खुशामद कर गये, मुझ से बात करने की भी फुरसत न थी! खायगी खाना, देखती हूँ क्या खाती है? अपने बाप का हाड़!"

मुन्नी की माँ ने खाना खा चुकने के बाद, सब का सब खाना उठाकर कहारिन को दे दिया और चौका उठाकर बाहर चली गई। किशोरी जब चौके में गई तो सब बरतन खाली पड़े थे। भात की पतीली में दो तीन कण चावल के लिपटे थे।

किशोरी ने उन्हीं को निकाल कर मुँह में डाल लिया और पानी पीकर अपनी कोठरी में चली आई।

\+ \+ \+

आज रामकिशोर जी कचहरी में कुछ काम न होने के कारण जल्दी ही लौट आये। मुन्नी की माँ बाहर गई थीं। घर मे पत्नी को न पाकर वे बहू की कोठरी की तरफ गये। बहू की दयनीय दशा देख कर उनकी आँखें भर आईं। आज चन्दन जीता होता तब भी क्या इसकी यही दशा होती। अपनी भीरुता पर उन्होंने अपने आप को न जाने कितना धिक्कारा! उस की धोती कई जगह से फट कर सी जा चुकी थी। उस धोती से लज्जा निवारण भी कठिनाई से ही हो सकता था। बिछौनों के नाम से खाट पर कुछ चीथड़े पड़े थे। ज़मीन पर हाथ का तकिया लगाये वह पड़ी थी। उसको झपकी सी लग गई थी। पैरों की आहट पाते ही वह तुरन्त उठ बैठी। रामकिशोर जी को सामने देखते ही संकोच से ज़रा घूँघट सरकाने के लिए उस ने ज्यों ही धोती खींची, धोती फट गई। हाथ का पकड़ा हुआ हिस्सा हाथ के साथ नीचे चला आया। रामकिशोर ने उसका कमल सा मुरझाया हुआ चेहरा और डबडबाई हुई आँखें देखीं। उनका हृदय दया से कातर हो उठा। ममत्व भरे मधुर स्वर से बोले—"तुम ने खाना लिया है बेटी?"

किशोरी के मुँह से निकल गया "नहीं"। फिर वह सम्हल कर बोली "खा तो लिया है बाबू।"

रामकिशोर—"मुझे तो मालूम होता है कि तुमने नहीं

खाया है।" किशोरी कुछ न बोली, उसका मुँह दूसरी ओर था, आँसू टपक रहे थे और वह नाखून से धरती खुरच रही थी।

रामकिशोर फिर बोले—"तुमने नहीं खाया न? मुझे दुःख है कि तुमने भी अपने बूढ़े ससुर की एक जरा सी बात न मानी।"

किशोरी को बड़ी ग्लानि हो रही थी कि वह क्या उत्तर दे। कुछ देर में बोली—"बाबू मैंने आपकी आज्ञा का पालन किया है, जो कुछ चौके में था खा लिया है, झूठ नहीं कहती।"

रामकिशोर को विश्वास न हुआ। कहारिन को बुला कर पूछा, तो कहारिन ने कहा—"मेरे सामने तो बहू ने कुछ नह खाया। माँ जी ने चौका पहले ही से खाली कर दिया था। खाती भी तो क्या?"

पत्नी की नीचता पर कुपित और बहू के सौजन्य पर रामकिशोर जी पानी-पानी हो गये। आज उनकी जेब में ५०) थे। उनमें से दस निकाल कर वे बहू को देते हुए बोले—"रुपये रखो, बेटी! तुम्हें यदि जरूरत पड़े तो खर्च करना।" इसी समय आँधी की तरह मुन्नी की माँ ने कोठरी मे प्रवेश किया। बीच से ही रुपयों को झपट कर छीन लिया, किशोरी के हाथ तक पहुँचने भी न पाये थे; गुस्से से तड़प कर बोलीं—"बाप रे बाप! अंधेर हो गया; कलजुग जो न करावे थोड़ा ही है। अपने सिर पर की चाँदी की तो लाज रखते। बेटी-बहू के सूने घर में घुसते तुम्हें लाज भी न आई? तुम्हारे ही सर चढाने से तो यह इतनी सरचढ़ी है। पर मैं न जानती थी कि बात

इतनी बढ़ चुकी है। इस बुढ़ापे में गढ़े में ही जा के गिरे ! राम राम ! ईसी पाप के बोझ से तो धरती दबी जाती है।"

वे तीर की तरह कोठरी से निकल गईं। उनके पीछे ही रामकिशोर भी चुपचाप चले गये। वे बहुत वृद्ध तो न थे; परन्तु जीवन में नित्य होने वाली इन घटनाओं और जवान बेटे की मृत्यु से वे अपनी उमर के लिहाज से बहुत बूढ़े हो चुके थे। ग्लानि और क्षोभ से वे बाहर की बैठक में जाकर लेट गये। उन्हें रह रह कर चंदन की याद आ रही थी। तकिये में मुँह छिपाकर वे रो उठे। पीछे से आकर मुन्नी ने पिता के गले मे बाँहें डाल दीं और पूछा—"क्यों रोते हो बाबू।" रामकिशोर ने विरक्ति के भाव से कहा—'अपनी किस्मत के लिए बेटी !"

सवेरे मुन्नी ने भौजी के मुँह से भी किस्मत का नाम सुना था और उसके बाद रोते देखा था। इस समय जब उसने पिता को भी किस्मत के नाम से रोते देखा तो उसने विस्मित होकर पूछा—'किस्मत कहाँ रहती है बाबू ? क्या वह अम्माँ की कोई लगती है ?"

मुन्नी के इस भोले प्रश्न से दुःख के समय भी रामकिशोर जी को हँसी आ गई, और वे बोले—"हाँ, वह तुम्हारी माँ की बहन है।"

मुन्नी ने विश्वास का भाव प्रकट करते हुए कहा—"तभी वह तुम्हें भी और भौजी को भी रुलाया करती है।"

— — —

अपना अपना भाग्य

(श्री जैनेन्द्रकुमार)

१

बहुत कुछ निरुद्देश्य घूम चुकने पर हम सड़क के किनारे की एक बेंच पर बैठ गये।

नैनीताल की संध्या धीरे-धीरे उतर रही थी ? रूई के रेशे से, भाप से, बादल हमारे सिरों को छू छूकर बेरोक घूम रहे थे। हलके प्रकाश और अँधियारी से रँगकर कभी वे नीले दीखते, कभी सफेद और फिर जरा देर में अरुण पड़ जाते। वे जैसे हमारे साथ खेलना चाह रहे थे।

पीछे हमारे पोलोवाला मैदान फैला था। सामने अंग्रेजों का एक प्रमोद गृह था, जहाँ सुहावना-रसीला बाजा बज रहा था और पार्श्व मे था वही सुरम्य अनुपम नैनीताल।

ताल में किश्तियाँ अपने सफेद पाल उड़ाती हुई एक-दो अंग्रेज यात्रियों को लेकर, इधर से उधर खेल रही थीं और कहीं कुछ अंग्रेज एक-एक देवी सामने प्रतिस्थापित कर, अपनी सुई-सी शक्ल की डोंगियों को मानो शर्त बाँधकर सरपट दौड़ा रहे थे। कहीं किनारे पर कुछ साहब अपनी बंसी पानी में डाले सधैर्य, एकाग्र, एकस्थ, एकनिष्ठ मछली-चिन्तन कर रहे थे।

पीछे पोलो-लॉन में बच्चे किलकारियाँ भरते हुए हॉकी खेल

रहे थे। शोर, मार-पीट, गाली-गलोज भी जैसे खेल का ही अंश था। इस तमाम खेल को उतने क्षणों का उद्देश्य बना, वे बालक अपना सारा मन, सारी देह, समग्र बल और समूची विद्या लगाकर मानो खतम कर देना चाहते थे। उन्हें आगे की चिन्ता न थी, बीते का खयाल न था। वे शुद्ध तत्काल के प्राणी थे। वे शब्द की सम्पूर्ण सचाई के साथ जीवित थे।

सड़क पर से नर-नारियों का अविरत प्रवाह आ रहा था और जा रहा था। उसका न ओर था न छोर। यह प्रवाह कहाँ जा रहा था और कहाँ से आ रहा था, कौन बता सकता है? सब उम्र के लोग उसमे थे। मानो मनुष्यता के नमूनों का बाजार सजकर, सामने से इठलाता निकला चला जा रहा हो।

अधिकार-गर्व में तने अंग्रेज उसमें थे, और चीथड़ों से सजे घोड़ों की बाग थामे वे पहाड़ी उसमें थे, जिन्होंने अपनी प्रतिष्ठा और सम्मान को कुचल कर शून्य बना लिया था; और जो बड़ी तत्परता से दुम हिलाना सीख गये थे।

भागते, खेलते, हँसते, शरारत करते लाल-लाल अंग्रेज बच्चे थे और पीली आँखें फाड़े, पिता की उँगली पकड़ कर चलते हुए अपने हिन्दुस्तानी नौनिहाल भी थे!

अंग्रेज पिता थे, जो अपने बच्चो के साथ भाग रहे थे, हँस रहे थे और खेल रहे थे। उधर भारतीय पितृदेव भी थे, जो बुजुर्गी को अपने चारों तरफ लपेटे धन-सम्पन्नता के लक्षणों का प्रदर्शन करते हुए चल रहे थे।

अंग्रेज रमणियाँ थीं, जो धीरे नहीं चलती थीं, तेज चलती

थीं। उन्हें न चलने में थकावट आती थी, न हँसने में लाज आती थी। कसरत के नाम पर घोड़ों पर भी बैठ सकती थीं, और घोड़े के साथ ही-साथ, जरा जी होते ही, किसी हिन्दुस्तानी पर भी कोड़े फटकार सकती थीं। वे दो-दो, तीन तीन, चार-चार की टोलियों में निश्शंक, निरापद, इस प्रवाह में मानों अपने स्थान को जानती हुई, सड़क पर से चली जा रही थीं।

उधर हमारी भारत की कुल-लक्ष्मियाँ सड़क के बिलकुल किनारे किनारे, दामन बचातीं और सम्हालती हुई, साड़ी की कई तहों में सिमट-सिमटकर, लोक-लाज, स्त्रीत्व और भारतीय गरिमा के आदर्श को अपने परिवेष्टनों में छिपाकर, सहमी-सहमी धरती में आँखे गाड़े कदम-कदम बढ़ रही थीं।

२

घंटे के घंटे सरक गये। अंधकार गाढ़ा हो गया। बादल सफेद होकर जम गये। मनुष्यों का यह ताँता एक-एक कर क्षीण हो गया। अब इक्का-दुक्का आदमी सड़क पर छतरी लगाकर निकल रहा था। हम वहीं-के-वहीं बैठे थे। सर्दी सी मालूम हुई। हमारे ओवरकोट भीग गये थे।

पीछे फिरकर देखा। वह लॉन बर्फ की चादर की तरह बिलकुल स्तब्ध और सुन्न पड़ा था।

सब सन्नाटा था। तल्लीताल की बिजली की रोशनियाँ दीपमालिका सी जगमगा रही थीं। वह जगमगाहट दो मील तक फैले हुए प्रकृति के जल-दर्पण पर प्रतिबिम्बित हो रही थी।

और दर्पण का काँपता हुआ, लहरें लेता हुआ वह तल उन प्रतिबिम्बों को सौ-गुना—हजार-गुना करके, उनके प्रकाश को मानो एकत्र और पुंजीभूत करके व्याप्त कर रहा था। पहाड़ के सिर पर की रोशनियाँ तारों-सी जान पड़ती थीं।

हमारे देखते-देखते एक घने पर्दे ने आकर इन सब को ढक दिया। रोशनियाँ मानों मर गई। जगमगाहट लुप्त हो गई। वह काले-काले भूत से पहाड़ भी इस सफेद पर्दे के पीछे छिप गये। पास की वस्तु भी न दीखने लगी। मानो यह घनीभूत प्रलय थी। सब कुछ इस घनी, गहरी सफेदी में दब गया। जैसे एक शुभ्र महासागर ने फैलकर संसृति के सारे अस्तित्व को डुबो दिया। ऊपर, नीचे, चारो तरफ, निर्भेद्य, सफेद शून्यता ही फैली हुई थी।

ऐसा घना कुहरा हमने कभी न देखा था। वह टप-टप टपक रहा था।

मार्ग अब बिलकुल निर्जन, चुप था। वह प्रवाह न जाने किन घोंसलों मे जा छिपा था।

उस बृहदाकार शुभ्र शून्य में, कहीं से ग्यारह बार टन टन् हो उठा। जैसे कहीं दूर कब्र मे से आवाज आ रही हो!

हम अपने-अपने होटलों के लिए चल दिये।

३

रास्ते में दो मित्रों का होटल मिला। दोनों वकील मित्र छुट्टी लेकर चले गये। हम दोनो आगे बढ़े। हमारा होटल आगे था।

ताल के किनारे किनारे हम चले जा रहे थे। हमारे ओवर-कोट तर हो गये थे। बारिश नहीं मालूम होती थी, पर वहाँ तो ऊपर-नीचे हवा के कण-कण में बारिश थी। सर्दी इतनी थी कि सोचा कोट पर एक कम्बल और होता तो अच्छा होता।

रास्ते में ताल के बिलकुल किनारे एक बेंच पड़ी थी। मैं जी में बेचैन हो रहा था। झटपट होटल पहुँचकर, इन भीगे कपड़ों से छुट्टी पा, गरम बिस्तर में छिपकर सो रहना चाहता था। पर साथ के मित्र की सनक कब उठेगी, और कब थमेगी—इसका क्या कुछ ठिकाना है! और वह कैसी क्या होगी—इसका भी कुछ अंदाज है। उन्होंने कहा—"आओ, जरा यहाँ बैठें।"

हम उस चूते कुहरे में रात को ठीक एक बजे, तालाब के किनारे की उस भीगी, बर्फीली, ठंडी हो रही लोहे की बेंच पर बैठ गये।

५—१०—१५ मिनट हो गये। मित्र के उठने का इरादा न मालूम हुआ। मैंने खिझलाकर कहा—

"चलिए भी..."

"अरे, जरा बैठो भी..."

हाथ पकड़ कर जरा बैठने के लिए जब इस जोर से बैठा लिया गया, तो और चारा न रहा—लाचार बैठ रहना पड़ा। सनक से छुटकारा न था, और यह जरा बैठना भी जरा न था।

चुप-चुप बैठे तंग हो रहा था, कुढ़ रहा था कि मित्र अचानक बोले—

"देखो, वह क्या है ?"

मैंने देखा—कुहरे की सफेदी में कुछ ही दूर से एक काली सी मूरत हमारी तरफ बढ़ी आ रही थी। मैंने कहा—"होगा कोई।"

तीन गज दूरी से दीख पड़ा, एक लड़का सिर के बड़े-बड़े बालों को खुजलाता हुआ चला आ रहा है। नंगे पैर है, नंगे सिर। एक मैली सी कमीज़ लटकाये है।

पैर उसके न जाने कहाँ पड़ रहे थे, और वह न जाने कहाँ जा रहा है—कहाँ जाना चाहता है ! उसके कदमों में जैसे कोई न अगला है, न पिछला है, न दायाँ है, न बायाँ है।

पास की चुंगी की लालटेन के छोटे से प्रकाश-वृत्त में देखा—कोई दस बरस का होगा ! गोरे रंग का है, पर मैल से काला पड़ गया है, आँखें अच्छी बड़ी पर सूनी हैं। माथा जैसे अभी से झुर्रियाँ खा गया है।

वह हमें न देख पाया। वह जैसे कुछ भी नहीं देख रहा था, न नीचे की धरती, न ऊपर चारों तरफ फैला हुआ कुहरा, न सामने का तालाब और न बाकी दुनियाँ। वह बस अपने विकट वर्तमान को देख रहा था।

मित्र ने आवाज दी—"ए !",

उसने जैसे जाग कर देखा और पास आ गया।

"तू कहाँ जा रहा है रे ?"

उसने अपनी सूनी आँखें फाड़ दी।

"दुनियाँ सो गई, तू ही क्यों घूम रहा है?"

बालक मौन-मूक, फिर भी बोलता हुआ चेहरा लेकर खड़ा रहा।

"कहाँ सोयेगा?"

"यहीं कहीं।"

"कल कहाँ सोया था?"

"दुकान पर।"

"आज वहाँ क्यों नहीं?"

"नौकरी से हटा दिया।"

"क्या नौकरी थी?"

"सब काम। एक रुपया और जूठा खाना।"

"फिर नौकरी करेगा?"

"हाँ .."

"बाहर चलेगा?"

"हाँ।"

"आज क्या खाना खाया?"

"कुछ नहीं।"

"अब खाना मिलेगा?"

"नहीं मिलेगा।"

"यों ही सो जायगा?"

"ह ..."

"कहाँ?"

"यहीं कहीं।"

"इन्ही कपड़ो से?"

बालक फिर आँखो से बोल कर मूक खड़ा रहा। आँखें मानो बोलती थीं—'यह भी कैसा मूर्ख प्रश्न है।"

"माँ-बाप हैं?"

"हैं।"

"कहाँ?"

"१५ कोस दूर गाँव में।"

"तू भाग आया?"

"हाँ।"

"क्यों?"

"मेरे कई छोटे भाई बहन हैं—सो भाग आया। वहाँ काम नहीं। रोटी नहीं। बाप भूखा रहता था। और माँ भूखी रहती थी और रोती थी। सो भाग आया। एक साथी और था। उसी गाँव का था—मुझ से बड़ा। दोनो साथ यहाँ आये। वह अब नहीं है।"

"कहाँ गया?"

"मर गया।"

इस जरा-सी उम्र में ही इसकी मौत से पहचान हो गई! मुझे अचरज हुआ, पूछा—"मर गया।"

"हाँ, साहब ने मारा, मर गया।"

"अच्छा हमारे साथ चल।"

वह साथ चल दिया! लौट कर हम वकील दोस्तो के होटल में पहुँचे।

"वकील साहब !"

वकील लोग होटल के ऊपर के कमरे से उतर कर आये। काश्मीरी दोशाला लपेटे थे. मोजे चढ़े पैरों में चप्पल थी। स्वर में हलकी सी झुँझलाहट थी, कुछ लापरवाही थी।

"ओ-हो, फिर आप !—कहिए ?"

"आपको नौकर की जरूरत थी ? देखिए, यह लड़का है।"

"कहाँ से लाये ?—इसे आप जानते हैं ?"

"जानता हूँ—यह बेईमान नहीं हो सकता।"

"अजी ये पहाड़ी बड़े शैतान होते हैं। बच्चे-बच्चे में गुन छिपे रहते हैं। आप भी क्या अजीब हैं—उठा लाये कहीं से—लो जी, यह नौकर लो।"

"मानिए तो, यह लड़का अच्छा निकलेगा।"

"आप भी···जी, बस खूब हैं। ऐरे गैरे को नौकर बना लिया जाय और अगले दिन वह न जाने क्या-क्या लेकर चम्पत हो जाय।"

"आप मानते ही नहीं, मैं क्या करूँ !"

"मानें क्या खाक ?—आप भी···जी अच्छा मजाक करते है।···अच्छा, अब हम सोने जाते हैं।"

और वह चार रुपये रोज के किरायेवाले कमरे मे सजी मसहरी पर सोने झटपट चले गये।

४

वकील साहब के चले जाने पर होटल के बाहर आकर मित्र

ने अपनी जेब में हाथ डालकर कुछ टटोला पर झट कुछ निराश-भाव से हाथ बाहर कर वे मेरी ओर देखने लगे।

"क्या है ?"—मैंने पूछा।

"इसे खाने के लिए कुछ देना चाहता था"—अंग्रेजी में मित्र ने कहा—"मगर दस-दस के नोट हैं।"

"नोट ही शायद मेरे पास हैं;—देखूँ !"

सचमुच मेरी जेब में भी नोट ही थे। हम फिर अंग्रेजी में बोलने लगे। लड़के के दाँत बीच-बीच में कटकटा उठते।—कड़ाके की सर्दी थी।

मित्र ने पूछा—"तब ?"

मैंने कहा—"दस का नोट ही दे दो।" सकपकाकर मित्र मेरा मुँह देखने लगे—"अरे यार, बजट बिगड़ जायगा। हृदय में जितनी दया है, पास में उतने पैसे तो नहीं।"

"तो जाने दो; यह दया ही इस जमाने में बहुत है।"—मैंने कहा। मित्र चुप रहे, जैसे कुछ सोचते रहे। फिर लड़के से बोले—

"अब आज तो कुछ नहीं हो सकता। कल मिलना। वह 'होटल-डि-पब' जानता है ? वहीं कल १० बजे मिलेगा ?"

"हाँ। कुछ काम देंगे हजूर ?"

"हाँ-हाँ ढूँढ दूँगा।"

"तो जाऊँ ?"—लड़के ने निराश आशा से पूछा।

"हाँ"—ठंडी साँस खींचकर फिर मित्र ने पूछा—"कहाँ सोयेगा ?"

"यहीं कहीं, बेंच पर, पेड़ के नीचे—किसी दुकान की भट्ठी में।"

बालक कुछ ठहरा। मैं असमंजस में रहा। तब वह प्रेतगति से एक ओर बढ़ा और कुहरे में मिल गया। हम भी होटल की ओर बढ़े। हवा तीखी थी—हमारे कोटों को पार कर बदन में तीर सी लगती थी।

सिकुड़ते हुए मित्र ने कहा—"भयानक शीत है। उसके पास कम—बहुत कम कपड़े थे........।"

"यह संसार है यार!" मैंने स्वार्थ की फिलासफी सुनाई—"चलो, पहले बिस्तर में गर्म हो लो, फिर किसी और की चिन्ता करना।"

उदास होकर मित्र ने कहा—"स्वार्थ!—जो कहो, लाचारी कहो, निठराई कहो—या बेहयाई!"

\+ \+ \+

दूसरे दिन नैनीताल स्वर्ग के किसी काले गुलाम पशु के दुलार का वह बेटा—वह बालक, निश्चित समय पर हमारे 'होटल-डि-पब' में नहीं आया। हम अपनी नैनीताली सैर खुशी-खुशी खतम कर चलने को तैयार हुए। उस लड़के की आस लगाये बैठे रहने की जरूरत हमने न समझी।

मोटर में सवार होते ही थे कि यह समाचार मिला—"पिछली रात, एक पहाड़ी बालक, सड़क के किनारे, पेड़ के नीचे ठिठुर कर मर गया।"

मरने के लिए उसे वही जगह, वही दस बरस की उम्र और

वही काले चीथड़ो की कमीज मिली ! आदमियों की दुनिया ने बस यही उपहास उसके पास छोड़ा था ।

पर बतलाने वालों ने बताया कि गरीब के मुँह पर, छाती, मुट्ठियों और पैरों पर, बरफ की हलकी-सी चादर चिपक गई थी ! मानों दुनिया की बेहयाई ढकने के लिए प्रकृति ने शव के लिए सफेद और ठंडे कफन का प्रबन्ध कर दिया था !

सब सुना और सोचा—"अपना अपना भाग्य !"

मास्टर साहब

(श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार)

इस अधेड़पन की आयु में, अपने बचपन की जिन अनेक, प्रातःकाल असम्बद्ध रूप में देखे हुए किसी सुख स्वप्न के समान मधुर स्मृतियों को, मैं कभी-कभी दिल की कसक मिटाने के लिए एकान्त में घंटों तक बैठ कर निरन्तर देखा करता हूँ, उनमें मेरे मास्टर साहब का एक विशेष स्थान है। आज मैं एक प्रतिष्ठित कालेज का प्रिन्सिपल हूँ। मेरी गंजी खोपड़ी की यहाँ बहुत बड़ी धाक है। मेरी विद्वत्ता और मौलिकता पर मेरे कालेज के विद्यार्थी और अध्यापक गर्व करते हैं,—परन्तु उन्हें क्या मालूम कि उनके प्रिन्सिपल साहब इन दिनों भी, कभी-कभी सपना देखते हुए, अपने बचपन के दो एक साथियों का स्मरण करके उनके भय से सिहर उठा करते हैं! इन सपनों में भी मास्टर साहब ही ऐन मौके पर पहुँच कर अपने लाड़ले विनायक की रक्षा करते हैं। मास्टर साहब की वृद्ध छायामूर्त्ति को देख कर जब मेरा भय दूर होने लगता है, उसी समय मेरी नींद उचट कर, उस भयंकर होते हुए भी मधुर स्वप्न को बीच में ही समाप्त कर देती है।

स्कूल की छोटी जमातों में किसी लड़के का कोई खास नाम पड़ जाना सब से बड़ी आफत है। उस उपनाम की मोहारनियाँ रट-रट कर लड़के उसकी नाक में दम कर देते हैं। बदकिस्मती

से मेरे माँ बाप ने मुझे जिस स्कूल में भर्ती किया, उसमें बहुत शीघ्र मेरे नाम के साथ 'चूहा' विशेषण जुड़ गया। मुझे ठीक याद नहीं कि यह नाम किस दिमाग की उपज थी,—शायद सब से पहले मेरे गणित के मास्टर ने ही मेरी चंचलता देखकर, मुझे 'चूहा' नाम से बुलाया था। परन्तु इतना मुझे अच्छी तरह से स्मरण है कि मेरे छोटे कद, तेज चाल और चमकीली आँखों के कारण, बहुत शीघ्र स्कूल भर में मेरा नाम 'विनायक चूहा' प्रसिद्ध हो गया। यहाँ तक कि मेरे उस्ताद भी मुझे इसी नाम से पुकारने लगे। थोड़े ही दिनों में लोगों ने 'विनायक' का भी बायकाट कर दिया, सिर्फ 'चूहा' कहकर ही मेरा स्मरण किया जाने लगा। उन दिनों मेरे लिए हँसना भी दूभर हो गया था—जरा किसी से कुछ कहा नहीं कि झट वह 'चूहा' कह कर मुझे चिढ़ा देता था। इतना ही नहीं, कई शरारती लड़के मुझे मारकर भाग जाते थे। जब मैं किसी उस्ताद से उनकी शिकायत करता तो वे झट से आकर कह देते—"नहीं जी, पहले चूहे ने ही मुझे काट खाया था !" मैं इस छेड़ से रोने लगता था, उस्ताद समझ लेते थे कि शायद सचमुच पहले मैंने ही शरारत शुरू की होगी। इन दिनों कभी-कभी मास्टर साहब ही मुझे प्यार से पुचकार कर आश्वासन दिया करते थे। जब कभी उनके अन्तर में कोई लड़का मुझसे छेड़छाड़ करता था, तब उस की आफ़त आ जाती थी।

मास्टर साहब भूगोल के अध्यापक थे। वे केवल उर्दू का मिडल ही पास थे; परन्तु उन दिनों हम उन्हें संसार के सब से

बड़े विद्वानों में से एक समझा करते थे। जिस विद्वत्ता से वे हमें बिजनौर ज़िले का भूगोल पढ़ाया करते थे, उसकी सारी जमात कायल थी।

भूगोल में मै अपनी जमात में पहला रहता था। इस कारण मास्टर साहब ने अपने अन्तर के लिए मुझे क्लास का मानीटर बना रक्खा था। मैं पढ़ाई में अच्छा होते हुए भी अपनी जमात का मानीटर नहीं था। जमात का असली मानीटर मुझ से बहुत चिढ़ता था। वह शीया था,—शीया मुसलमानों की चूहों से दुश्मनी स्वाभाविक है। वह सदैव मुझे पिटवाने का प्रयत्न करता था, इस लिए प्रतिदिन मैं भी भूगोल के अन्तर की प्रतीक्षा किया करता था। इस अन्तर में एक पद का भारी अधिकार पाकर मैं अपनी जमात के असली मानीटर से बदला निकालने का पूरा प्रयत्न करता था। बोर्ड पर टँगे हुए नक्शे के पास खड़े होकर, एक लम्बा प्वाइंटर हाथ में लिये हुए, बड़ी संजीदगी के साथ प्रश्न पर प्रश्न कर के सारी जमात को तंग कर देता था; खास कर मानीटर से तो मैं अपना पूरा दिमाग लड़ाकर कठिन से कठिन सवाल किया करता था,—परिणामतः उसे प्रायः प्रतिदिन मास्टर साहब से डाँट सुननी पड़ती थी। परन्तु शोक यही था कि भूगोल की बारी सप्ताह में केवल तीन दिन ही आती थी।

मास्टर साहब बहुत गरीब थे। केवल २५) रु० मासिक लेकर ही वे अपने बड़े भारी परिवार का पालन करते थे। यह होते हुए भी उनका दिल बहुत उदार था। एक दिन स्कूल

की सीढ़ियों से गिर कर मेरी टाँग से खून निकलने लगा था, तब मास्टर साहब ने अपनी नई धोती का एक भाग फाड़कर मुझे पट्टी बाँध दी थी। वे मेरे सच्चे हितचिन्तक थे,—मुझे सदैव पढ़ने-लिखने की ओर विशेष ध्यान रखने के लिए कहा करते थे।

मास्टर साहब में एक अवगुण भी था। वह यह कि वे बहुत आलसी थे। वे सदा क्लास में देर से आते थे और घंटा बज चुकने पर भी देर तक पढ़ाते रहते थे। परन्तु उनका यह अवगुण भी मेरे लिए बहुत लाभकर था। भूगोल के अन्तर में, जब तक मास्टर साहब न आते थे, मैं ही मानीटर के अधिकार से क्लास का निरीक्षण किया करता था। परन्तु मेरा यह भूगोल के अन्तर का आनन्द भी बहुत दिनों तक स्थिर न रह सका। लड़कों की सूझ बहुत दूर तक पहुँचती है। मैं प्रतिदिन एक लम्बा प्वाइंटर हाथ में लेकर लड़कों को परेशान करता था, अतः उन्होंने उस प्वाइंटर का नाम 'चूहे की पूँछ' रख छोड़ा। बस, अब ज्योंही मैं प्वाइंटर उठा कर बोर्ड के पास जाता था, लड़के आँख के इशारों से एक दूसरे की ओर देखकर शरारत भरी मुसक्यान करने लगते थे। कभी-कभी इन गुप्त तानों से मैं इतना तंग आ जाता था कि रोने के सिवाय मेरे पास इस दुख से बचने का कोई इलाज ही न रहता था। मुझे रोते देख कर मास्टर साहब साक्षात् क्रूरता के अवतार बन जाते थे। मेरे ही कारण वह कई बार सारी क्लास को उलटे कान पकड़वा चुके हैं।

(२)

बचपन की उन सरल विभूतियों को समाप्त हुए बहुत अरसा

बीत जाने पर भी मास्टर साहब से मेरा सम्बन्ध नहीं टूटा। लगभग १०, १२ बरस उस स्कूल से बहुत दूर, इलाहाबाद, रह कर भी मैं फिर उसी स्कूल में लौट आया। अब की बार, मैं प्रथम विभाग में एम० ए० की परीक्षा पास कर के इस स्कूल का मुख्याध्यापक नियुक्त होकर आया हूँ। स्कूल में जमीन आसमान का परिवर्तन आ गया है। उन दिनों वह डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का एक साधारण मिडल स्कूल था, अब वह सरकारी हाई स्कूल बन चुका है। उसकी इमारतें भी पहले की अपेक्षा बहुत विस्तृत और सुन्दर बना दी गई हैं। सहन में एक सुन्दर फुलवाड़ी लग गई है। आज उस जमाने का एक भी विद्यार्थी या उस्ताद वहाँ नहीं है। सभी कुछ नया हो चुकने पर भी पुराने जमाने का एक अवशेष अभी तक उसी तरह विद्यमान है। मेरे स्नेही मास्टर साहब आज भी ध्रुव तारे की तरह से वहाँ विद्यमान हैं। जब मेरा जन्म भी नही हुआ था, तब से वे इसी स्कूल में शिक्षक का काम कर रहे हैं। वे तो स्थिर रहे हैं, परन्तु उनकी आयु उनकी तरह स्थिर नहीं रह सकी। अब वे बहुत ही वृद्ध हो गये हैं।

मैं मुख्याध्यापक बन कर स्कूल में आया हूँ। स्कूल में मेरा बहुत प्रभाव है। विद्यार्थी मेरा दबाव मानते हैं, अध्यापक मुझ से अदब के साथ पेश आते हैं। मैं बहुत शीघ्र कड़े नियन्त्रण का पक्षपाती हेडमास्टर प्रसिद्ध हो गया हूँ। घण्टा बजते ही सब लड़के स्कूल में पहुँच जाँय, सब काम ठी

का वेश यथा सम्भव एक समान रहे, वे स्कूल में कभी शोर न

करें—इन सब बातों पर मैं अधिक ध्यान देता हूँ। मेरे रोब के कारण ही अब प्रायः सभी उस्ताद खड़े रह कर अपनी जमातों को पढ़ाते हैं।

मेरे मास्टर साहब भी मुझ से डरते हुए से पेश आते हैं। यह मुझे पसन्द नहीं। आवश्यकता होने पर जब कभी वे चपरासी से पूछ कर डरते डरते मेरे दफ्तर में आते हैं, तब मैं खड़ा होकर उनका स्वागत करता हूँ। मैं सदैव उनको सम्मान पूर्वक पहले बन्दगी करने की कोशिश करता हूँ। हमेशा उनसे हँस कर बात करता हूँ।

मेरी नियुक्ति से मास्टर साहब प्रसन्न भी हैं और कुछ खिन्न भी। वे खिन्न इसलिए हैं कि अपनी इस लम्बी ज़िन्दगी में उन्हें जिन २५, ३० हेडमास्टरों से पाला पड़ा है, वे सब कभी न कभी उनकी आलसी तबीयत के कारण फटकार अवश्य बता चुके हैं। इस बुढ़ापे में मास्टर साहब का आलस्य और अधिक बढ़ गया है; परन्तु अपने इस नये 'चेले हेडमास्टर' के डर से उन्हें अपनी वह तबीयत छोड़ने के लिए जी जान से प्रयत्न करना पड़ रहा है। इस ज़िन्दगी तक मास्टर साहब कभी-कभी हेडमास्टर की फटकार सुनने को मौसमी बुखार में कुनीन पीने की तरह से लाज़मी समझते रहे हैं—इसे उन्होंने कभी बुरा नहीं माना। मास्टर साहब के इतना प्रयत्न करने पर भी उनकी तबीयत में कोई खास परिवर्तन नहीं आ सका। आदत पुरानी थी न। वे प्रायः अब भी क्लास में देर से पहुँचते हैं। उनके अन्तरों में लड़के शोर मचाते रहते हैं। मुझे यह सब बुरा प्रतीत

होता है तथापि मैं कभी मास्टर साहब से इस बात की शिकायत नहीं करता। वे जब किसी जमात को पढ़ाते होते हैं, तब मैं उस जमात में जाता ही नहीं—क्योंकि इससे मेरे लिए मास्टर साहब को खड़ा होना पड़ता।

(३)

गरमी का मौसम अपने पूरे यौवन पर था। नौकर बाहर बैठकर पंखा खींच रहा था फिर भी मुझे असह्य गरमी सता रही थी। उन दिनों बिजली के पंखों का आम रिवाज नहीं था, तब प्रायः दफ्तरों में पंखे रस्सी से खींच कर चलाये जाते थे। गरमी इतनी थी कि कोई काम करने की इच्छा न होती थी। मेरे दफ्तर के सामने स्कूल के सहन में एक पेड़ की साया में किसी क्लास की पढ़ाई हो रही थी, वहाँ लड़के शोर मचा रहे थे। इस शोर ने मुझे और भी अधिक खिन्न कर दिया। धीरे-धीरे लड़कों का यह शोर मेरे लिए असह्य हो उठा। मैं क्रोध में भर कर दफ्तर,से बाहर निकल आया।

बाहर आकर मैंने देखा कि मास्टर साहब एक कुर्सी पर बैठे-बैठे ऊँघ रहे हैं; उनके सामने घास पर बैठे हुए चौथी जमात के छोटे-छोटे बच्चे शोर मचा रहे हैं। कुछ लड़के हाथापाई भी कर रहे हैं। मेरे स्कूल के सहन में, और वह भी मेरे दफ्तर के ठीक सामने इतना अक्षम्य अपराध! जैसे यह स्कूल बिलकुल लावारिस हो। मैं क्रोध से भरा हुआ, शीघ्रता से मास्टर साहब के पास पहुँचा। लड़के घबरा कर उठ खड़े हुए। परन्तु मास्टर साहब अभी तक सो रहे थे! दो-एक क्षण तक उनकी ओर

देखते रह कर क्रोध भरे स्वर में मैंने कहा—"मास्टर साहब !"

बूढ़े मास्टर पर मानो किसी ने तमंचे का फ़ायर कर दिया। वे हड़बड़ा कर एक दम से कुर्सी पर उठ खड़े हुए। उनका चेहरा अत्यधिक लज्जावनत हो गया। वे आँखें नीची करके ज़मीन की ओर ताकने लगे।

इसके बाद मैं उनसे कुछ नहीं कह सका। मेरा सारा क्रोध उतर गया। मुझे स्वयं प्रतीत होने लगा कि मैंने यह काम अच्छा नहीं किया।

(४)

स्कूल का समय समाप्त हो गया। मैं अपनी साइकिल पर सवार होकर अपने घर पहुँचा। आज मेरा दिल बहुत उदास था। कभी मुझे अपने मास्टर साहब से भी इस तरह पेश आना पड़ेगा—यह मैंने कभी कल्पना भी न की थी। मैंने वहीं देख लिया था कि मेरी फटकार से मास्टर साहब को असह्य क्लेश पहुँचा है। रह-रह कर मुझे उनका, उस समय झुका हुआ, लज्जित चेहरा याद आने लगा। इस मानसिक खेद में आज मैं भोजन भी नहीं कर सका।

दोपहर के दो बजे थे। स्कूल का समय ११ बजे ही समाप्त हो जाता था। इस समय सनसनाती हुई लू चल रही थी। सूर्य आग बरसा रहा था। इसी समय मैं नंगे पैर और नंगे सिर, पैदल ही मास्टर साहब के घर की तरफ चल दिया।

जमीन गरम तवे के समान तपी हुई थी। मुझे ऐसा अनुभव

हो रहा था कि मानो मैं आग पर चल रहा हूँ। गरम लू से शरीर छिदता जा रहा था। ऐसी भयंकर गरमी मैंने इस जन्म में और कभी अनुभव न की होगी। मैं इन सब बातों की परवाह किये बिना, मास्टर साहब से मिलने की इच्छा से चलता जा रहा था।

मास्टर साहब का घर, शहर के बिलकुल बाहर, एक खेत के किनारे पर था। इस छोटे से घर में वे अपने परिवार के साथ रहते थे। इस मौसम में फसल कट चुकी थी खेत साफ मैदान की तरह फैला हुआ था। मैंने देखा कि इसी खेत में शीशम के एक पेड़ की घनी छाया के नीचे मास्टर साहब कोई कपड़ा तक बिछाये बिना सोये हुए हैं। मैं उनके पास पहुँचा। मुख को छोड़कर, उनका शेष सम्पूर्ण शरीर एक चादर से ढका हुआ था। कुछ देर तक मैं चुपचाप खड़े रह कर उनकी तरफ देखता रहा। उस निर्जन खेत में, मानसिक व्यथा का मूर्त्तिमान प्रतिरूप बन कर सोया हुआ वह दरिद्र और बूढ़ा मास्टर मुझे इस लोक से बहुत ऊपर की चीज जान पड़ा।

इसके बाद उनके पैरों के पास बैठ कर मैं धीरे धीरे उनके पैर दबाने लगा। मास्टर साहब सहसा जाग उठे। मुझे देखते ही वे एक दम उठ कर बैठ गये। उन्होंने मुझे छाती से लगा लिया। मैंने देखा कि मास्टर साहब की आँखों से आँसू बह रहे हैं।

मास्टर साहब को, इसके बाद अधिक दिनों तक मेरे नीचे काम न करना पड़ा। मेरी सिफारिशों के आधार पर उनकी

वेतनवृद्धि करके उन्हें उसी जिले के एक प्रारम्भिक स्कूल का मुख्याध्यापक बना दिया गया।

\+ + +

मास्टर साहब को अब यह संसार छोड़े बहुत दिन हो गये है, परन्तु उनकी याद मेरे हृदय में आज भी ताजी बनी हुई है।

पत्नीव्रत

(श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क')

निर्विकार रूप से गोविन्द ने आकर लक्ष्मी की चारपाई के गिर्द पर्दे लगा दिये—पर्दे जो लकड़ी के फ्रेम में सफेद कपड़ा लगा कर बनाये गये थे, इच्छानुसार खोल लिये जाते थे और और फिर बन्द करके दीवार के साथ रख दिये जाते थे। तब मिस सुलताना और मिस बेटी अपने हलके चपल पैरों से तेज तेज चलती आयों और फिर डाक्टर अपनी सौम्य तथा गम्भीर आकृति को लिये, अपने भारी क़दमों को धीरे-धीरे रखते उन पर्दों के अन्दर चले गये।

कुछ क्षण तक निस्तब्धता छायी रही। केवल छत पर लगे हुए सफेद परों वाले पंखे अपनी अविच्छिन्न गति से चलते रहे और जून की तपती दुपहरी अपने अर्धनिमीलित नेत्रों से तन्द्रावस्था में चुपचाप पड़ी रही।

तभी पर्दे के पीछे से कुछ उखड़ी उखड़ी साँसों की आवाज आयी, फिर लक्ष्मी के उखड़े उखड़े शब्द और फिर सुलताना का दीर्घ निःश्वास। तब डाक्टर ने कहा, "स्ट्रेचर ले आओ।" और यह कह कर, पर्दे के पीछे से निकल कर वे जैसे आये थे, वैसे ही चले गये। तब रूमाल से आँखें पोंछती हुई मिस

सुलताना निकली। दूसरी बीमार स्त्रियाँ उत्सुक नजरों से उधर ही ताक रही थीं। उस के निकलते ही रशीदा ने पूछा—

"क्यों?"

"ख़त्म हो गयी," भरे गले से सुलताना ने उत्तर दिया।

"आख़िरी वक्त क्या कहती थी?" सुरती बोली।

"सिर्फ़ एक बार खन्ना साहब को याद किया और बस!" और यह कह कर आँसू पोंछती हुई वह जल्दी जल्दी स्ट्रैचर लेने चली गयी।

लक्ष्मी अपने पति को खन्ना साहब कह कर पुकारती थी। लाहौर ही में वे नौकर थे। हर सातवें दिन नियमित रूप से लक्ष्मी को देखने आते थे। कोई ऐसे रूपवान न थे, पर ऐसे भी नहीं थे कि कुरूप कहे जा सकें। आँखों में तो उनकी कुछ ऐसी बात थी कि आदमी अनायास ही उन की ओर खिंच जाता था और फिर इतनी बातें करते थे, इतने क़हक़हे लगाते थे कि जब वे आ जाते तो अस्पताल के उस नीरव, निस्तब्ध वातावरण में जीवन आ जाता। लक्ष्मी ही उन के आने की प्रतीक्षा करती हो, यह बात न थी। उस बड़े खुले कमरे में, लोहे की निर्मम चारपाइयों पर लेटी हुई, बुख़ार, टैम्प्रेचर, दवाई, परहेज की बातें सुनते-सुनते आजिज़ आयी हुई स्त्रियाँ प्रति सप्ताह उन के आने की प्रतीक्षा किया करतीं। वे बातें चाहे अपने सम्बधियों से करती हों, पर कान तो उनके उधर ही लगे रहते। और लक्ष्मी—वह तो जाने यह सात दिन कैसे बिताती थी? हँसती थी, दूसरों को हँसाती थी, पर इन

समस्त हँसी कहकहों में पति की प्रतीक्षा जैसे उसके हृदय में, किसी अज्ञात स्तर के नीचे दबी पड़ी रहती थी। शायद वे हँसी के कहकहे भी अस्पताल के उन रेंगते से उदास दिनों को काटने का बहाना-मात्र थे। उस समय ही, जब वह उस घातक रोग से ग्रसित थी, उसके हृदय में अपने पति के प्रति इतना मोह उत्पन्न हो उठा हो, यह बात नहीं। अपने विवाह के बाद ही जब एक महीना ससुराल में गुजार कर वह अपने मैके पहुँची थी तो उसकी सहेलियों ने जान लिया था कि बस्ती की आजाद फ़िज़ा में स्वतन्त्र खेलने वाली भोली-भाली लक्ष्मी अब स्नेह की जंजीरों में बँध गई है।

सब ओर से उसे घेर कर जब सहेलियाँ बैठ गई थीं तो गर्व से उसने कहा था—"उनकी बात पूछती हो, वे तो मुझे पल भर को भी आँखों से ओझल नहीं होने देते, कितनी कितनी देर मेरी ओर देखते रहते हैं और कहते हैं—"

उसका चेहरा लाल हो गया था। और सहलियों के अनुरोध पर गुलाब बन बन कर उसने कहा था—"कहते हैं कि तुम तो स्वर्ग की देवी हो, मैं तुम्हारी पूजा करता हूँ।"

शीला की ईर्षा-युक्त आँखों ने तब देखा था कि उसका यह कथन महज़ अपने पति की प्रशंसा करने वाले नारी-स्वभाव ही का द्योतक नहीं, वरन् उस गहरे अनुभव का परिचायक है, जिसका समर्थन उसका अंग अंग कर रहा था। तब अपने पति की अन्यमनस्कता का ध्यान आने पर उसके हृदय से दीर्घ निःश्वास निकल गया।

सावित्री ने अपनी ईर्ष्या का प्रदर्शन एक दूसरे ही ढंग से किया था। खिसियानी हंसी के साथ बोली थी—"हाँ बहन, उन्हें क्यों न प्रेम होगा, एक बार हाथ से गँवाकर ही आदमी चीज की कदर करता है। जभी तो दुहाजू वर पसन्द किया जाता है।"

इस वाक्य में जो व्यंग था, उसकी ओर ध्यान दिये विना, अपने उल्लास की रौ मे सरला लक्ष्मी ने अपनी सहेलियों को अपने इस एक महीने के वैवाहिक जीवन की अनेक कहानियाँ सुना डाली थीं—किस प्रकार उसके पति उस पर जान छिड़कते हैं; उसे-आँखों से ओझल तक करना पसन्द नही करते। दफ़्तर में भी जाने कैसे समय बिताते हैं। 'पहली पत्नी' वे कहते है, 'वह तो गॅवार और मूर्ख थी, तुम्हें पाकर तो मैं धन्य हो गया हूँ।'

तारा ने तब हॅसते हुए कहा था, "सास को भला यह सव कैसे भाता होगा?"

"दिल की तो उनके मैं क्या जानूँ बहन," लक्ष्मी ने कहा था, पर मीठी तो वे ऐसी हैं जैसे मिश्री; बोलती हैं तो रस घोल देती हैं। मेरी तो आदत तुम जानती हो, सोते-सोते धूप चढ़ जाती है, पर उन्होंने कभी इस का बुरा नहीं माना। स्वयं वे प्रातः चार बजे उठ कर, नहा-धो, पूजा-पाठ कर, घर का सब काम निपटा देती हैं। मैं कुछ करने की कोशिश भी करूँ तो कहती हैं—"तुम्हें ही तो करना है बहू, मैं कब तक बैठी रहूँगी!"

और उस दिन बस्ती में लक्ष्मी की कर्तव्य-परायणा सास और पति की कहानी घर-घर फैल गयी! विवाहित स्त्रियों ने

प्रार्थना की कि उन के पति और सासें भी ऐसी ही बन जायें और कुँवारी लड़कियों ने दिल ही दिल में कहा—भगवान हमें भी ऐसा ही घर-वर देना !

रबड़ के पहियों वाला स्ट्रैचर किसी आवाज के बिना धीरे धीरे पूरब के दरवाजे से दाखिल हुआ. गोविन्द उसे धकेल रहा था और मिस सुलताना चुपचाप उसके साथ चली आ रही थी। सदैव हँसने वाला उसका चेहरा उतरा हुआ था, जैसे उसी के किसी आत्मीय की मृत्यु हो गयी हो। मौतें अस्पताल में नित्य होती रहती है और उन्हें देखते-देखते अस्पताल के कर्मचारी उनके अभ्यस्त हो जाते हैं, अविचल भाव से काम किये जाते है, पर लक्ष्मी से सुलताना को कुछ बहनों का सा स्नेह हो गया था। सुलताना ही क्या, सब उसे प्यार करने लगी थीं।

अपने वैवाहिक जीवन की कितनी घटनाएँ बड़ी सरलता से उसने कह सुनायी थीं—सास के सम्बन्ध मे उसने जो इतने ऊँचे विचार बना रखे थे उन्हें टूटते देर न लगी थी। खन्ना साहब तब नौकर न हुए थे, पर नीति से काम लेना वे जानते थे। माँ के सामने चुप रहते, पर एकान्त में कहते—"लक्ष्मी, माँ के समस्त दोषों की माफी मैं तुम से माँगता हूँ।" और तब सास की झिड़कियाँ, ताने, गालियाँ सब उसे भूल जातीं और पति में उसकी श्रद्धा और भी कई गुना बढ़ जाती। वे साथ हैं तो फिर संसार भी क्यों न विरुद्ध हो जाय, वह सब विरोध हँसती हुई झेल लेगी। मन न होते हुए भी तब उस ने सास को खुश करने के

लिए भगवती दुर्गा की आराधना करना सीखा। अपनी सुस्ती को छोड़ उसने काम करने की आदत डाली। किन्तु सास के तेवर न उतरे। उसकी झिड़कियाँ, ताने, गालियाँ जारी रहीं। पर लक्ष्मी ने हँस कर सब कुछ सहना सीख लिया था। हाँ, एक बार जब जलता हुआ घी गिर जाने से उसके हाथ जल गये थे और अभी आराम भी न हो पाया था कि उसकी सास ने भारी सी कपड़ों की गठरी धोने के लिए उसके आगे रख दी थी तो सदैव हँसने वाली उसकी आँखें रो दी थीं। कपड़े धोते-धोते उसके छाले फूट गये थे, तब अन्दर जाकर वह खूब जी भर कर रोयी थी और जब खन्ना साहब आये, तो उसने कहा था, 'मुझे इस नरक से छुटकारा दिलाओ। माँ, यदि धनवान हैं तो क्या इसलिए इस नरक की यातना सहते जायँ। मुझे तुम्हारे साथ रूखी रोटी पसन्द है, पर यह अन्याय तो अब नहीं सहा जाता।

खन्ना साहब ने तब उसे धीरज बँधाया था और भविष्य की कल्पनाओं का ठंडा फाहा उसके जलते हृदय पर रख दिया था—जब वे नौकर हो जायँगे तो उसे अपने साथ लाहौर ले जायँगे, माँ तो नवाँशहर ही में रहेंगी और वहाँ लाहौर में अनारकली, माल, सिनेमा, तमाशे, नुमाइशें! और इन्हीं सुखद कल्पनाओं में खोकर वह अपने हाथों का दर्द, दिल का दर्द सब भूल गयी थी। क्रूर विधाता! जब वह दिन आया, खन्ना साहब लाहौर ही में सिविल सेक्रेटेरियट में मुलाजिम हो गये तो वह यक्ष्मा जैसे घातक रोग में ग्रसित हो गयी।

धीरे-धीरे चलता हुआ स्ट्रेचर पर्दे के पीछे पहुँचा और कुछ

देर बाद श्वेत चादर में लिपटा हुआ हड्डियों का एक ढाँचा लेकर दोनों ओर बिछी हुई, बीमार स्त्रियों की चारपाइयों में होता हुआ, पश्चिम के दरवाज़े से बाहर चला गया। डाक्टर साहब बरामदे में ही खड़े थे। वहीं से उन्होंने कहा, "मुर्दाखाने में ले जाकर रखो, तब तक खन्ना साहब आ जायँगे। लहनासिंह तो कब्र का गया हुआ है।"

निमिषमात्र के लिए बीमार स्त्रियों के हृदय धड़क उठे। सब की आँखों मे लक्ष्मी का क्षीण, यक्ष्मा से चुसा हुआ शरीर, मौत की उस श्वेत चादर में लिपटा, घूम गया। यक्ष्मा में ग्रसित उन सब का भी तो आखिर यही अंजाम होना है। मौत से कहीं भयानक है अपनी ही जैसी बीमारी से किसी को मरते देखना और स्वयं तिल-तिल करके मरना। कुछ अँधेरा-सा बहुतों की आँखों के सामने छा गया। और कुछ के आँसू आ गये।

पर्दे के पीछे से निकलकर मिस बैटी वाश-बेसिन में हाथ साफ करने चली गयी और तब सदैव दयामयी, सदैव दूसरों का दुःख-दर्द बँटानेवाली मिस सुलताना ने इस कठिन वातावरण को कुछ हलका करने का प्रयास किया। सदैव ऐसा होता था, सदैव जब कोई रुग्णा इस भयानक रोग के हाथों मुक्ति पाती थी और कमरे में मौत की कठोर उदास निस्तब्धता छा जाती थी तो सुलताना अपनी मुसकराहट, अपने मीठे, सान्त्वना भरे स्वर, अपनी दिलचस्प बातों, विचित्र किस्सों से उसे दूर करने का प्रयास किया करती थी। एक डेढ़ वर्ष से लक्ष्मी भी उसका

साथ देती आयी थी, पर आज वह स्वयं मौत की गहरी निस्तब्धता में समा गयी थी !

घड़ी ने टन टन दो बजाये। टैम्प्रेचर लेने का समय आ गया था। दिल में उठती हुई रुलाई को बरबस रोककर, दवाई में पड़े हुए थर्मामीटर को उठा, झटका देकर मुसकराने का प्रयास करते हुए वह रशीदा की चारपाई के पास पहुँची, पर आज प्राणपण से कोशिश करने पर भी वह लक्ष्मी की मौत को अपनी हँसी से यों न टाल सकी।

रशीदा ने कहा, "मिस साहब, लक्ष्मी भी चली गयी !"

थर्मामीटर को रशीदा की जिह्वा के नीचे* रखकर सुलताना ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा और नाड़ी की गति देखने के लिए उसकी कलाई हाथ में ली।

सुरती ने कहा, "अंतिम समय तक अपने पति का नाम उसकी जबान पर रहा। क्यों मिस साहब, खन्ना साहब भी उससे इतना ही प्यार करते होंगे।"

"होंगे क्या, करत हैं," सुलताना ने रशीदा की कलाई छोड़कर कहा, "लक्ष्मी को तो मरना ही इसी लिए सुगम हो गया। मैं तो सोचती हूँ कि मुहब्बत करनेवाले पति जिस सौभाग्यवती के पास है, मौत उसे कोई भी कष्ट नहीं पहुँचा सकती। बेहोश होने के कुछ देर पहले जब उसे मालूम हो गया कि उसका

---

* अब यक्ष्मा के अस्पतालों में थर्मामीटर मुँह में नहीं रखा जाता। बगल में रखा जाता है।

अंतिम समय बस अब निकट ही है, तो मुझसे उसने कहा था, "मिस साहब, जाने वे क्यों नहीं आये? इस बार तो उन्हें दो सप्ताह हो गये। इस समय इच्छा होती है, काश वे मेरे पास होते!" फिर स्वयं ही हँसकर बोली, "मिस साहब, मैं भी कितनी मूर्ख हूँ? वे न भी आयें तो भी क्या वे मुझ से दूर हैं? मेरे दिल में तो हर वक्त उनकी तसवीर रहती है! और मैं ही उनसे कौन दूर हूँ। कई बार तो उन्होंने कहा है—लक्ष्मी तुम तो हर वक्त मेरे पास रहती हो। कई बार काम करते-करत तुम्हारा ख्याल आ जाने से गलती हो जाती है।" इसके बाद वह बेहोश हो गयी थी। मरते समय भी जब क्षणभर के लिए उसकी बेहोशी टूटी तो अपने पति का नाम उसके मुँह पर था।"

यह कहते हुए भीगी आँखों को पोंछ, घड़ी पर दृष्टि डाल, सुलताना ने थर्मामीटर रशीदा के मुँह से निकाल लिया और हरारत देखकर नोट करने के लिए चार्ट उठाया।

सुरती ने कहा, "पर मिस साहब, यह गहनों की क्या बात थी। जब भी खन्ना साहब आते थे उनका जिक्र अवश्य छिड़ता था। जब से गहने ले गये, बस एक बार ही तो फिर आये हैं।"

थर्मामीटर को दवाई में डाल और दूसरा उठाकर सुरती को देते हुए सुलताना ने कहा—"मैंने पूछा नहीं, पर जब लक्ष्मी आयी थी तो सब गहने अपने साथ ले आयी थी। सास न चाहती थी कि वह एक गहना भी ले जाय। आखिर इस अस्पताल में इतने गहनों की आवश्यकता भी क्या? गोखड़,

गुलुबन्द, चूड़ियाँ, माला, लॉकेट, कोई एक गहना हो तो बात है। सभी गहने ले आयी थी। जाने क्यों उसे गहनों से इतना मोह था। सास तो कभी न ले जाने देती, पर खन्ना साहब अपनी माँ को समझा-बुझाकर ले आये थे। लक्ष्मी का शरीर दिनों-दिन क्षीण होता जाता था। जब चूड़ियाँ हाथों से निकल निकल पड़ने लगीं, और गरदन की हड्डियों में माला तक का बोझ उठाने की शक्ति न रही तो उसने उन्हें बाँधकर सिरहाने रख लिया। इसीलिए गहनों की बात चला करती थी। आखिर, खन्ना साहब के कहने पर मैंने एक दिन समझाया कि गहने तुम्हारे ही नाम बैंक में जमा कराये जा सकते हैं, तब कहीं उसने गहने दिये। यही एक बात लक्ष्मी में मुझे विचित्र लगी। न जाने गहनों ही के सहारे वह अपने आप को जीवित देखती थी!"

सुरती को जिह्वा थर्मामीटर से दुखने लगी थी। आखिर उसने स्वयं उसे निकाल कर मिस सुलताना को दिया। चौंक कर सुलताना ने थर्मामीटर ले लिया और टैम्प्रेचर देखने लगी।

सुरती ने कहा, "यह तो ठीक है मिस साहब, पर गहने लेने के बाद खन्ना साहब ने प्रति सप्ताह आना क्यों छोड़ दिया? दो सप्ताह हो गये, उन्हें आये हुए।"

रशीदा बोली, "बीमार न हो गये हों, नहीं, गर्मी-सर्दी, वर्षा-धूप उन्होंने किसी का कभी ख्याल नहीं किया। बाकायदा हर हफ्ते आते रहे और मैं तो सोचती हूँ मिस साहब, लक्ष्मी की मौत की खबर सुनकर उनके दिल पर क्या बीतेगी, अपनी बीवी से किसी को ही ऐसी मुहब्बत होगी..."

तभी शायद स्ट्रैचर मुर्दाखाने में पहुँचा कर गोविन्द वापस आया और उसके पीछे डाक्टर साहब भी आये। पर्दे के पास पहुँच कर गोविन्द ने पूछा, "कपड़ों को लपेट दूँ डाक्टर साहब!"

डाक्टर साहब उसके पास जाकर खड़े हो गये। "नहीं!" उन्होंने कहा, "अस्पताल की चादरों को डिसिनफेक्टर में डाल दो और शेष सब समान रख दो। अभी शायद खन्ना साहब या उनका आदमी आ जाय। हाँ, गद्दे को बाहर धूप में डाल दो।"

तभी बरामदे के पास सीढ़ियों पर साइकल फेंक कर हाँफता हाँफता पसीने से तर लहनासिंह अन्दर आया। डाक्टर साहब ने आगे बढ़कर पूछा, "कहो खन्ना साहब मिले? स्वस्थ तो हैं?"

लहनासिंह ने सिर हिलाया। साँस उसकी फूल रही थी, जवाब न बन पड़ता था।

जरा सख्ती से डाक्टर ने पूछा, "मिले या नहीं? कहा नहीं तुमने कि लाश को आज शाम से पहले ले जायें।"

थूक निगल कर लहनासिंह ने कहा, "वे तो शादी करने अपने घर चले गये हैं।"

ठन ठन करता चार्ट मिस सुलताना के हाथ से फर्श पर गिर पड़ा और रशीदा ने जैसे चीख कर कहा, "मिस साहब! मिस साहब!!"

———

पिकनिक

(श्रीमती कमलादेवी चौधरी)

बरसात का मौसम, बदली का दिन और इतवार की छुट्टी—इन सारी न्यामतों का उचित उपयोग न करना, कहाँ की बुद्धिमानी है ?

प्रायः आँख खुलते ही सतीश के मस्तिष्क में यह प्रश्न उठा, और उत्तर के रूप में तुरन्त ही उसने 'पिकनिक' का प्रोग्राम निश्चित कर दिया। फिर क्या था, अपनी उतावली को क्षण-भर भी रोक रखना उसके लिए कठिन हो गया। बराबर के कमरे में जाकर उसने सुबोध के मुख पर सुराही उलट दी—अजीब घोंचू आदमी हो ! अरे, ऐसा अच्छा दिन सो कर बर्बाद कर रहे हो ?

बेचारे सुबोध ने बारह बजे रात तक पुस्तकों में अपनी मस्तिष्क-शक्ति का बूँद-बूँद निचोड़ डाला था, और नवीन शक्ति उत्पन्न करने की योजना में उसने अपना प्रोग्राम इस प्रकार बनाया था:—

१—प्रातः दस बजे तक मीठी नींद सोना, फिर आँख खुलते ही लड़के को पुकारकर गरम चाय का एक प्याला चढ़ाना।

२—दस से ग्यारह बजे तक शय्या पर पड़े-पड़े 'वायलिन'

के तार टुनटुनाना और बीच-बीच में सतीश तथा सुधीर से गाली-गलौज का 'एटिकेट' बरतना।

३—ग्यारह से साढ़े ग्यारह बजे तक दाढ़ी बनाना।

४—साढ़े ग्यारह से साढ़े बारह बजे तक इक्कीस बार गोडरेज सोप का उबटन लगाकर स्नान करना।

५—साढ़े बारह से दो बजे तक अन्य आवश्यक कार्य, जैसे बालों में लेवेंडर की शीशी उलटकर मस्तिष्क को पुष्ट करना, कंघे की सहायता से बड़े आईने के सम्मुख माँग काढ़ने के परिश्रम में व्यायाम करना, पोमेड और सुगन्धित पाउडर के सेवन से सौन्दर्य-वृद्धि करके अपने को खास अंग्रेज साबित कर देनेवाली घड़ी की प्रतीक्षा तथा खुशनुमा विलायती लेवेंडर से रूमाल तर कर जेब में रखना, ताकि वक्तन फवक्तन दिमाग को तरोताजगी पहुँचती रहे; इत्यादि।

इन कार्यों से फारिग होकर दस मिनट लड़के को 'एटिकेट' की शिक्षा देना, कुछ देर चहल-क़दमी करना, अपने मकान-मालिक वकील साहब से सबेरे के नमस्ते का फर्ज अदा करना, तत्पश्चात् टेबिल पर बैठकर अरहर की दाल, आलू का शाक और रोटी खाना।

भोजन के उपरान्त ढाई बजे से चार बजे तक मेडिकल साइन्स को ध्यान मे रखकर स्वास्थ्य-वृद्धि के लिए ताश, कैरम आदि खेलना। फिर एक घण्टा उबटन, पालिश आदि में खर्च करना तथा टाई की गिरह ठीक करने में समय के बहुत-से भाग का उचित उपयोग करके सूट-बूट से सुसज्जित होकर गिरजाघर

की ओर गश्त लगाना और विद्यार्थियों की मनोवृत्ति के अनुसार स्त्रियों के नखशिख, चाल-ढाल का अध्ययन तथा रूप-राशि की विवेचना करना, फिर किसी सिनेमा-हाउस में बैठकर प्रेम के घात-प्रतिघातों का अवलोकन करके आध्यात्मिक शक्ति एकत्रित करना।

रविवार के दिन इस सारे आवश्यक प्रोग्राम की समाप्ति के उपरान्त फिर वही खाना, पढ़ना, सवेरे कालेज जाने की चिन्ता करना इत्यादि।

सतीश ने सात बजे ही मुख पर सुराही उलट कर उसका सारा प्रोग्राम गड़बड़ कर दिया। अन्य कार्य तो हो भी जायँगे; किन्तु दिमागी ताकत एकत्रित होने में तो बाधा पहुँची न?

सुबोध भुन-भुनाकर एक जबान में अनेक सभ्यता से परिपूर्ण गालियाँ समाप्त करके बोला—कौन बेवकूफ कहता है कि बदली के दिन सोना वक्त बर्बाद करना है?

सतीश मुसकराकर बोला—अब सीधी तरह बिस्तर छोड़ कर उठ खड़े हो। अधिक झिकझिक करना समय नष्ट करना है। मैंने सोने से भी बढ़िया प्रोग्राम बनाया है।

तीसरे कमरे में सुधीर लेटा हुआ था। इन दोनों की नोंकझोंक सुनकर उसे बिस्तरे पर पड़े रहना अच्छा न लगा, तुरन्त ही घटनास्थल पर आकर बोला—क्या मामला है। यार?

सतीश ने पिकनिक के प्रोग्राम के साथ ही एक और दिल-

चस्प प्रोग्राम भी पेश किया, जिसे सुनते ही सुबोध तुरन्त बिछौना छोड़कर उठ खड़ा हुआ। नींद पूरी न होने का ग़म दूर हो गया। तीनों मित्र पिकनिक की तैयारी करने लगे।

२

कालेज-होस्टल में स्थानाभाव के कारण सुधीर, सतीश और सुबोध एक वकील साहब के मकान के कुछ भाग में रहते थे। बेचारे वकील साहब सीधे-सादे भद्र पुरुष थे। अभी आयु कुछ अधिक नहीं थी और कालेज छोड़े थोड़े ही दिन हुए थे; किन्तु फिर भी न जाने क्यों युवावस्था की स्वाभाविक सरसता उनके स्वभाव से चली गई थी। हर समय अत्यन्त गम्भीर बने रहते थे। अपने घर और कचहरी के सिवा अन्य कार्यों से सम्बन्ध रखना उनकी प्रकृति के विरुद्ध था।

मनुष्यों की सूरत से मानो उन्हें डर लगता हो। कोई छेड़-कर उनसे बात-चीत करने लगता तो शिष्टाचारवश उत्तर देना ही पड़ता, वरना स्वयं वे किसी को वार्तालाप करने का अवसर ही न देते। कोई जान-पहचान का मिल जाता, तो यथाशक्ति उससे आँख बचाकर किनारा काटने की चेष्टा करते। वैसे स्वभाव में अक्खड़पन नहीं था। किसी से बातचीत करने की बला यदि सिर आ ही पड़ती, तो वकील साहब अत्यन्त सर-लता और मिठास से बोलते; फिर भी न जाने क्यो वे दूसरे से मिलने-जुलने में मुँह चुराते।

इस विद्यार्थी-पार्टी के लिए वकील साहब बड़े कौतूहल के विषय थे—ये कैसे आदमी हैं? इसी आयु में इतने नीरस क्यों हैं?

एकान्त इतना प्रिय क्यों है ? सदा गम्भीर ही बने रहते हैं, मानो संसार से विरक्त हो रहे हों।

इन प्रश्नों के हल करने में ये लोग अपना मस्तिष्क खर्च किया करते, और कभी-कभी इसी विषय को लेकर तीनों मित्रों में वाक-युद्ध छिड़ जाता था। कोई कहता—मियाँ-बीवी में बनती नहीं है।

'खासे मूर्ख हो ! न बनने का कोई कारण भी तुम्हें दिखलाई देता है ? बात कुछ दूसरी ही है। उनकी स्त्री को क्या देखा नहीं है ? पढ़ी लिखी तमीज़दार मालूम पड़ती है। और खूबसूरत भी है।'

'तो जनाब, आप ही अपनी अक़्ल का परिचय दीजिये।'

'क्या यह सम्भव नहीं है कि वकील साहब किसी और को प्यार करते हों, और माता-पिता ने उनकी इच्छा के विरुद्ध विवाह कर दिया हो ?'

सतीश ने कहा—हो सकता है, सुधीर, तुम्हारा ही कहना ठीक हो।

किन्तु सुबोध टेबिल पर हाथ पटककर बोला—हरगिज़ नहीं, कदापि ऐसा नहीं हो सकता। वकील साहब के पास दिल ही कब है, जो वे किसी को प्यार करने गये होंगे। वह तो बिलकुल जले दिल का आदमी है—राख का ढेर !

'तो भाई, फिलासफर होगा !'

'अजी वाह ! फिलासफर होता तो क़ानून की किताबों में मगजपच्ची करने जाता ? तुम भी बिलकुल जंगली ही हो।

इतना भी नहीं सोचते कि आज वह फिलासफी का प्रोफेसर क्यों न बन जाता ?'

'एक बात और भी हो सकती है।'

'वह क्या ?'

'किसी मजहबी चक्कर में पड़कर योगाभ्यास कर रहा हो !'

'बहुत सम्भव है।'

'अरे यार ! कुछ भी हो, किसी प्रकार इसका रहस्य जानना ही चाहिए; किन्तु वह पीठ पर हाथ तो रखने ही नहीं देता, बात करने जाओ तो बिगड़ैल टट्टू की तरह रस्सी तुड़ाता है।'

तीनों मित्र वकील साहब के विषय में इसी प्रकार की कल्पनाएँ किया करते और उनका मजाक उड़ाते; पर साथ ही साथ उनसे घनिष्ठता बढ़ाने की भी चेष्टा करते जाते।

वकील साहब के एकान्तवास में इन लोगों के आने से बाधा पड़ गई थी। पहले तो वे बेचारे बहुत ही घबराये—यह कहाँ की बला मोल ले ली। ये लोग तो मेरा पिण्ड ही नहीं छोड़ते। कई बार तो वे इस प्रकार व्यग्र हो उठे कि इच्छा हुई, घर खाली करवा लें। किन्तु सभ्यता ने स्वीकार नहीं किया।

इन तीनों मित्रों ने प्रातः-सन्ध्या वकील साहब के घर चक्कर लगाना अपना नियम-सा बना लिया। काम के लिए ये लोग वकील साहब का मुँह ही निहारते रहते। उनका बच्चा बीमार हुआ तो डाक्टर के घर जाना, दवा लाना आदि काम हठपूर्वक इन लोगों ने अपने सिर ले लिया। गरज यह कि अपनी शिष्टता का सिक्का इन्होंने वकील साहब पर पूर्णतः जमा लिया।

वकील साहब भी आखिर पत्थर के तो थे नहीं, धीरे-धीरे इन लोगों से बात-चीत करने में उनकी लज्जा और संकोच दूर हो गया; फिर भी वे इन लोगों से अधिक खुलना नहीं चाहते थे।

आज वकील साहब स्नान आदि से फारिग होकर कुछ जलपान करने की फिक्र में थे कि तीनों लड़कों ने आकर घेर लिया और मिन्नत, खुशामद, इसरार आदि से काम लेकर वकील साहब को पिकनिक के लिए तैयार ही कर लिया।

बेचारे वकील साहब क्या करते। छुट्टी का दिन था, कुछ बहाना भी न सके। घर में जाकर स्त्री से बोले—वे लड़के किसी प्रकार मानते ही नहीं. मुझे अपने साथ पिकनिक में ले जाने का हठ कर रहे हैं।

'तो चले क्यों नहीं जाते? घर बैठे-बैठे अपनी तन्दुरुस्ती खराब करते हो। जाने अब तुम्हें क्या हो गया है, कहीं जाते आते ही नहीं! ऐसी भी क्या शर्म? इन्सान ही से भूल···'

बीच ही में वकील साहब ने स्त्री को चुप रहने का संकेत किया—वे लड़के पास ही कमरे में खड़े हैं, कुछ सुन लेंगे, तो कयामत हो जायगी।

वे सचमुच दरवाजे में कान लगाये थे, बाहर ही से बोले—थैंक्स, भाभीजी, वकील साहब को तैयार करके हमारे साथ खिचड़ी बनाने का सामान भी दे दीजिए।

फिर एक दूसरे के कान में कहने लगे—कोई भारी रहस्य है, 'भूल' का शब्द सुना?

(३)

पिकनिक पार्टी गंगा के किनारे एक एकान्त स्थान में पहुँची। स्नान के बाद खिचड़ी पकी, आम लाये गये और सबने खूब आग्रह कर करके वकील साहब को खिलाया।

अब प्रश्न उठा, क्या किया जाय? किसी ने कहा, ज़रा सैर की जाय, किसी ने कहा—ताश खेला जाय। वकील साहब को इन लोगों ने इतना अधिक खिला दिया था कि उनके लिए लेट जाने के सिवा और कोई उपाय नहीं था। आखिर यह तय हुआ कि सब लोग लेटकर ही वार्तालाप करें। अब दूसरा प्रश्न सामने आया, वार्तालाप का विषय क्या हो?

सतीश बोला—वकील साहब, आप आध्यात्मिक विषय पर कुछ कहिए।

वकील साहब इस बात से घबरा उठे, बोले—न भैया, मेरे बस की यह बात नहीं। तुम लोगों ने मेरे पेट में इतना ठूँस दिया है कि बोला तक नहीं जाता, तुम्हीं लोग कहो।

'तो हम लोग बिना किसी विषय के ही वार्तालाप प्रारम्भ करते हैं, आप उकतायेंगे तो नहीं?'

'कदापि नहीं; बल्कि आनन्द लूँगा?'

फिर क्या था, दुनिया भर की अल्लम-गल्लम बातें होने लगीं। बरसात का मौसम था ही, घटा घिरी हुई थी, सामने नेत्रों को आनन्द देनेवाली कलकलनादिनी गंगा बह रही थी, आम के वृक्षों पर कोयल कूक रही थी। ऐसे सुन्दर प्राकृतिक वायु-मंडल

के बीच में यह पार्टी संसार की सारी चिन्ताओं को भूलकर हास-परिहास में तन्मय हो गई।

वकील साहब इन लोगों की मनोरंजक बातों से अपने को भूलकर आनन्द में विभोर हो गये। बहुत दिन उपरान्त आज मन भरकर हँसे। हँसते-हँसते सबके पेट में बल पड़ गये। आखिर थककर बातों का क्रम पलटा और गम्भीर विषय प्रारम्भ हुआ।

सतीश बोला—वकील साहब आप नास्तिक हैं, या आस्तिक ?

वकील साहब के मानो कान खड़े हो गये हों. बात टालते हुए बोले—छोड़ो इन बातों को, कुछ और विषय छेड़ो।

लोगों ने ताड़ लिया, सदा यहीं पर वकील साहब किनारा काटते हैं; आज इस बात को समाप्त न होने देना चाहिए।

सुबोध बोला—हम तो नास्तिक हैं; सुधीर तुम ?

सुधीर कान पर हाथ रखकर बोला—राम-राम। नास्तिक शब्द सुनकर मैं कान बन्द कर लेता हूँ। मैं तो कट्टर सनातनी हूँ।

सतीश कहने लगा—मैं तो भाई, अब राधास्वामी होने का विचार कर रहा हूँ। क्यों वकील साहब, आपकी क्या सम्मति है ? राधास्वामियों ने तरक्की तो बहुत की है।

सुधीर मुँह बिचका कर बोला—तरक्की की है. आध्यात्मिक तरक्की तो स्वयं प्राप्त करने की वस्तु है, सभा-समाज से क्या लाभ ? वैसे तो जो सनातन धर्म में खूबी है, वह किसी में भी नहीं। क्यों वकील साहब, आपका क्या विचार है ?

वकील साहब को बात-चीत का यह क्रम बिलकुल नहीं रुच रहा था। नाक सिकोड़कर बोले—हूँ, यह तो है ही।

इस विषय पर सदा ही वकील साहब गम्भीर हो जाते हैं, इस कारण लड़कों को और भी कौतूहल होता था। कहीं ऐसा तो नहीं है कि वकील साहब इस विषय का खूब ज्ञान रखते हैं और हम लोगो के सम्मुख इस प्रश्न को चलाना ही नहीं चाहते, क्योंकि हम मज़ाक बनाते हैं।

सतीश ने इस बार युक्ति से काम लिया—वकील साहब, आप खामोश रह कर हमारा सारा मज़ा किरकिरा कर देते हैं। आप भी आज़ादी से अपने विचार क्यों नहीं प्रकट करते ?

वकील साहब मुख पर प्रसन्नता का भाव लाने की चेष्टा करते हुए बोले—नहीं नहीं ऐसा तो नहीं है। मैं खामोश कहाँ हूँ, तुम लोगों की बातों में आनन्द ले तो रहा हूँ।

'तो फिर आप भी बताइए—आप सनातनी हैं, या आर्य-समाजी ?"

इस बार वकील साहब कुछ अधिक घबरा गये, बोले—भैया, माफ़ करो, मैं इस विषय पर वाद-विवाद नहीं किया करता।

'क्यों वकील साहब, इस विषय में क्या बुराई है ?'

'कुछ भी नहीं, किन्तु मुझे ऐसी बातों में आनन्द ही नहीं आता।"

'खैर, तो जाने दीजिए; लेकिन आपके रहन-सहन से मालूम होता है कि आप ऐसे ही किसी गूढ़ तत्त्व को हल किया करते हैं।'

'और मैं तो आपको योगी समझे बैठा हूँ। आपकी मनोवृत्ति बिलकुल फकीरों जैसी है। नहीं वकील साहब, आप छिपाते हैं। आज तो हम लोग आपसे कुछ उपदेश सुनकर ही मानेंगे।'

तीनों मित्र वकील साहब के पीछे पड़ गये—जरूर! जरूर! हम लोग आपके इतने समीप रहकर भी अज्ञान में भटका करें? ऐसा कदापि नहीं हो सकता।

'तुम लोगों को हो क्या गया है? अरे भाई, मैं भी तो तुम्हीं लोगों जैसा एक जीव हूँ। मैं इन बातों को क्या जानूँ?'

'नहीं वकील साहब, बहुत हुआ। अब हम लोगों को टरकाइए नहीं। आप क्या हैं, यह हम लोग खूब जानते हैं।'

अब वकील साहब बहुत ही चिन्तित हो उठे, कहीं ये लोग मेरे बारे में कुछ सुन तो नहीं आये हैं, जो इस प्रकार पीछे पड़ गये है। बेचारे अपनी शंका-समाधान करने को बोले—अच्छा, तुम लोगों ने मेरे बारे में क्या ख्याल बना रखे हैं?

लड़के ताड़ गये कि चोर की दाढ़ी में तिनकेवाली बात है। बोले—वकील साहब, आपके विषय में हम लोगों ने अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की हैं; यदि आप नाराज न हों, तो हम लोग अपने विचार सुना सकते हैं।

वकील साहब ने सन्तोष की साँस ली, चलो, इन लोगों ने कल्पनाएं ही की हैं, मेरे बारे में और कुछ नहीं जानते हैं। बोले—नाराजगी की क्या बात है, कहो न।

सतीश बोला—वकील साहब, आपकी यह गम्भीरता और विरक्ति देकर मेरा अनुमान है कि आप योगाभ्यास कर

रहे है। वह दिन करीब है, जब आप बीबी-बच्चों को छोड़कर चले जायँगे, और हम लोग फिर पछतायेंगे कि ऐसे मनुष्य का साथ पाकर भी हम लोग अज्ञान ही में डूबे रहे।

सुधीर बोला—मेरा ख्याल कुछ और ही है। आपको मैं एक बहुत ही रहस्य-मय आदमी समझता हूँ। आप सबसे अलग रहना चाहते हैं; किसी से अपने मन की बातें नहीं करते, जैसे आप किसी 'कान्सपिरेसी' के सरदार हैं।

वकील साहब चौंक पड़े—रहम करो! तुमने तो मुझे बँधवाने की बात सोच रखी है, किसी और से कहना भी नहीं!

सुबोध बोला—माफ कीजिएगा, वकील साहब, आप अपने मुँह से चाहे न कहें, लेकिन आपसे अवश्य कोई भयंकर पाप हो गया है, जिसके पश्चात्ताप स्वरूप आप चिन्तित और लज्जित से रहते हैं।

अब तो वकील साहब अत्यन्त ही व्यग्र हो उठे—लिल्लाह बख्शो, तुम लोगों ने तो मुझे चक्कर में डाल दिया। आखिर मेरे बारे में ऐसे ख्याल क्यों बनाते हो? सच कहता हूँ, इन बातो में किंचित् मात्र भी सचाई नही है।

'तो फिर आप इस प्रकार क्यो रहते हैं? जीवन में जरा रस लाने की चेष्टा करिए न। हम लोगों ने तय कर लिया है कि आपकी यह उदासी दूर करके मानेंगे।'

सतीश कहने लगा—वकील साहब, आप सोशलिस्ट हो जाइए।

'नहीं, वकील साहब, आप राधास्वामी बन जाइए।'

'कुछ नहीं, तो हमारे क्लब के मेम्बर ही बन जाइए।'

'अजी, बन जाना कैसा, कल नाम लिख लेना, फिर तो हम लोग इन्हे पकड़ ही ले चलेंगे।'

'न, भाई न! मेरे हाल पर रहम करो। सभा, सोसाइटी, समाज—इन चीजों से मैं बहुत घबराता हूँ।'

'आखिर घबराने का कोई कारण भी हो?'

'कारण? कारण यही है कि मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि कभी किसी सभा-सोसाइटी के चक्कर में नहीं पड़ूँगा। अपने इसी प्रण को निभाने के कारण तो मैं इच्छा रहते हुए भी कांग्रेस के सन् १६३० के आन्दोलन तक में हिस्सा नहीं ले सका!'

अब क्या था, इतनी देर बाद वकील साहब राह पर आये थे। लड़के उनके पीछे लग गये, मानो गुड़ में चींटे चिपक गये हों। बारी-बारी के सभी उस प्रश्न को दुहराने लगे—बताइए वकील साहब, आपने क्यों ऐसा प्रण किया?

(४)

हैरान होकर बेचारे वकील साहब अपनी कहानी सुनाने को लाचार हो गये; लेकिन डर रहे थे कि सुनकर ये लड़के फिर भी मेरी हँसी ही उड़ायेंगे, और कहीं चारों ओर ढिंढोरा भी न पीटते फिरें, जो गड़े मुर्दे उखड़ने लगें। कठिनाई से तो अब जरा अपनी शर्म दूर कर सका हूँ।

इधर लड़कों ने सत्याग्रह ठान रखा था। वे घोषणा कर चुके थे कि बिना आपकी कहानी सुने न हम घर जायेंगे, न आपको जाने देंगे। तीनों में से एक भी नर्म नहीं पड़ता था।

इशारों ही में एक दूसरे को समझा चुके थे कि आज यह शिकार छूटा, तो फिर कठिनाई से काबू मे आयेगा।

बेचारे वकील साहब की सॉप-छछूँदर-जैसी गति थी। कोई चारा न देखकर बोले—अच्छा भाई, मेरी राम-कहानी सुनो; परन्तु वायदा करो कि सिवा तुम तीनो के और कोई नहीं जान पायेगा और तुम लोग फिर यह जिक्र छेड़कर मुझे लज्जित नहीं करोगे।

लड़कों का मुख प्रसन्नता से खिल गया। सुबोध बोला—मैं अपनी होनेवाली 'वाइफ' की कसम खाकर कहता हूँ कि किसी से नहीं कहूँगा, और फिर हँसूँ, तो आप मुझे वही सजा दें, जो अपने साईस को देते है।

सुधीर बोला—मै इसी घुरिया मिट्टी की कसम खाता हूँ। अपनी मातृभूमि की धूल-मिट्टी से बढ़कर और क्या होगा ?

सतीश कहने लगा—मैं राधास्वामी होने जा रहा हूँ, इसलिए राधास्वामी दयाल की सौगन्ध खाकर विश्वास दिलाता हूँ कि आपके आदेश का पालन करूँगा। बस, अब आप प्रारम्भ कीजिए, वरना लौटने मे देर हो जायगी और आपकी 'वाइफ' चिन्ता करेंगी। हम लोग तो फक्कड़ आदमी हैं।

वकील साहब खीझ उठे—तुम लोग तो अभी से मजाक उड़ा रहे हो। भाई, मैं भी ऐसा बुद्धू नहीं हूँ, कभी मैं भी 'कालेज स्टूडेण्ट' रहा हूँ।

'लीजिए, आप यकीन ही नहीं करते। हम लोगो की यह कसमें दिली कसमें हैं। वैसे आप जिस प्रकार आज्ञा करें, हम

लोग 'प्रामिस' करने को तैयार हैं। सच वकील साहब, हम सिंसियरली प्रामिस' करते हैं कि किसी से नहीं कहेंगे और न कभी उस विषय को लेकर आपका मजाक उड़ायेंगे, बल्कि आपके अत्यन्त कृतज्ञ होंगे कि आपने हमको उलझन से नजात दी।"

सभी ने एक स्वर से इस बात को दोहराया, तब वकील साहब उदास मन से अपनी राम कहानी सुनाने लगे—

'स्टूडेण्ट लाइफ' में मुझे भी सार्वजनिक कार्यों से बहुत प्रेम था। किसी सभा-सोसइटी का मेम्बर बन जाना मैं गौरव की बात समझता था, साथ में आध्यात्मिक उन्नति करने की लालसा भी थी। उन दिनों आर्यसमाजियों का बड़ा जोर था। मेरे ऊपर भी रंग चढ़ा। पहले तो समाज के जलसों में जाना शुरू किया। सुन-भर पाता कि किसी समाजिस्ट की स्पीच या शास्त्रार्थ है, तो फिर चाहे कैसा ही आवश्यक कार्य क्यों न हो, मैं उसे ठुकराकर पहुँच जाता। संध्या, हवन आदि मेरा नियमित कर्म था, 'सत्यार्थ-प्रकाश' का पाठ भी नित्य प्रति करता था।

पहले घर में समाजी विख्यात हुआ, फिर मित्रों में और बाद में तो मैं सारे शहर में पक्का आर्यसमाजी मशहूर हो गया। वास्तव में मैं अपने को ऋषि-सन्तान बनाने की चेष्टा में था। मेरा दृढ़ निश्चय था कि मैं अक्षरशः वेद-वाक्य का पालन करूँगा। ब्रह्मचर्य-आश्रम के धर्म को भली-भाँति पूर्ण करके फिर गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम के कर्म को पूरा करूँगा। इन्हीं विचारों से मैं सतयुग के स्वप्न देखने लगा।

इसी बीच हमारे घर मे एक अतुल संग्राम उठ खड़ा हुआ। मेरे अनजाने ही में माताजी ने मेरा विवाह तय कर लिया और लड़कीवाले को वचन भी दे दिया। मैंने जब यह बात सुनी, तो मेरे पैरों-तले से पृथिवी सरक गई। खैर, मैंने सारी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ रहने का निश्चय किया। माता-पिता के हठ से मुझे भारत की दीन-हीन दशा पर आँसू आ गये। एक समय था, जब माता-पिता अपने पुत्रों को ऋषियों के आश्रम में भेजकर ब्रह्मचर्य रखने में सहायता देते थे, एक यह ज़माना है कि पुत्र को धर्म से विचलित करते हैं !

मेरे यह कहने पर कि ब्रह्मचर्य-आश्रम को पार करके विवाह करूँगा, माताजी ने रो-रोकर घर भर दिया—मैं जीते जी क्या बहू का मुख भी न देख सकूँगी ? पिताजी कहने लगे—मैं अपने वचन से नहीं डिग सकता। लड़की के पिता विवाह का सारा प्रबन्ध कर चुके हैं। इसी मास मे विवाह की बात है। पुत्र का यह भी तो धर्म है कि गुरुजनों की आज्ञा का पालन करे।

मैं उस समय भी ऐसे ही धर्म-संकट में पड़ गया था, जिस प्रकार आज तुम लोगों ने मुझे बाधित किया है। पहले तो मैं खूब रोया-पीटा, माता-पिता के चरणो पर सिर रखकर प्रार्थना की, खाना-पीना भी छोड़ दिया; किन्तु फल कुछ भी न हुआ। माता-पिता भी तो मेरा मन रखने मे असमर्थ थे। कोई चारा न देखकर मैं आर्यसमाज के प्रधानजी के पास परामर्शार्थ पहुँचा।

सारा माजरा सुनकर वे भी चक्कर में आ गये। आखिर मेरे प्रश्न पर विचारार्थ मीटिंग बुलाई गई।

मेम्बरगण भी सब हैरान थे कि ऐसी भीषण परिस्थिति में क्या सम्मति दें। वाद-विवाद में बहुत समय बीत गया। विद्वानों में ऐसा घोर शास्त्रार्थ छिड़ा कि कई दिन लग गये. फिर भी वे कुछ निर्णय न कर सके। इसी बीच मेरी ही बुद्धि ने एक उपाय सोच निकाला। मैंने निश्चय कर लिया कि गुरुजनों की आज्ञा शिरोधार्य कर विवाह कर लेता हूँ; पर पचीस वर्षों तक अपनी स्त्री को धर्मपत्नी की दृष्टि से नहीं देखूँगा। इस प्रकार सत्य और धर्म दोनों ही रह जायेंगे।

मेरे इस निर्णय पर समाज ने मुक्तकंठ से मेरी प्रशंसा की, और उसी दिन से मैं लोगों की दृष्टि में श्रद्धा का पात्र बन गया। सारा शहर मुझे ब्रह्मचारीजी कहकर सम्बोधन करने लगा। मैं भी अपने आत्म विश्वास पर खुलकर खेला। थोड़े ही दिनों में मेरा नाम हो गया। अब मेरा व्याख्यान होता, तो जन-समुदाय उमड़ पड़ता। लोग जानते थे कि मैं अपने अनुभव की बात सुनाऊँगा।

विवाह के उपरान्त दो वर्ष शान्तिपूर्वक व्यतीत हो गये। अभी गौने की रस्म नहीं हुई थी. इसलिए मेरी स्त्री अपने पिता के घर ही रहती थी। फिर भी मैंने निश्चय कर लिया था कि उसके आने पर भी मैं उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखूँगा। ब्रह्मचर्य के नियमों का मैं यथाक्रम पालन कर रहा था। रहन सहन खान-पान—प्रत्येक बात में मैं इस बात का पूर्णतः

ध्यान रखता था कि कहीं किसी प्रकार कोई ऐसी बात न हो, जो ब्रह्मचर्य के लिए बाधक हो।

मैंने पुस्तकों में पढ़ा था—ब्रह्मचारी को अपनी माता तथा बहन के साथ भी एकान्त में बैठना मना है।

गेरुवे कपड़े पहनना, बड़े-बड़े बाल रखना, सात्त्विक भोजन करना, पृथ्वी पर शयन करना तथा स्त्रियों से दूर रहना—इन बातों का मैं विशेष ध्यान रखता था।

मैंने निश्चय कर लिया था कि मैं किसी स्त्री की ओर कभी देखूँगा ही नहीं। राह चलते भी कोई स्त्री सामने से आती होती तो मैं आँखें बन्द करके खड़ा रह जाता। कई बार इक्के-ताँगे-वालो की गालियाँ भी खानी पड़ी, किन्तु अपने प्रण पर मै दृढ़ रहा। मेरे मित्र मेरी हँसी उड़ाते; लेकिन मैंने किसी की परवा नहीं की। मित्रों की क्षुद्र बुद्धि पर मुझे खेद होता था कि ये लोग ब्रह्मचर्य के महत्त्व को तनिक भी नहीं समझते हैं।

कालेज के छात्र ही नही, लड़कियाँ भी मेरा मजाक उड़ाने से चूकती नहीं थीं। कालेज के मार्ग ही में लड़कियो की पाठ-शाला थी। मैं बहुत तेज़ साइकिल दौड़ाता जिसमे लड़कियों के बाहर निकलने के पूर्व ही मै घर पहुँच जाऊँ; पर किसी दिन उन लोगों की छुट्टी जल्दी हो जाती, तो मुझे बड़ी देर तक आँखे बन्द किये सड़क पर खड़ा रहना पडता। वे लोग इतनी शरार-तिन थीं कि 'ब्रह्मचारीजी नमस्ते' की झड़ी लगा देतीं। मेरा मन चाहता कि कानों में उँगली लगा लूँ। उन लोगों की मधुर वाणी से मेरे शरीर का रोम-रोम झनझना उठता। घर आकर

आत्म-शुद्धि के लिए मुझे बहुत देर तक गायत्री पाठ आदि करना पड़ता।

एक बार मैं ससुराल गया। वहाँ पहुँचते ही साली साहबा अपनी सहेलियों के दल-बल के साथ चढ़ आईं और हँसी-मज़ाक करने लगीं। वे बातें ब्रह्मचर्य के लिए बिलकुल ही प्रतिकूल थीं। लोग ससुराल की खातिरदारियों से प्रसन्न होते हैं, यहाँ मेरा खून सूखा जा रहा था। मेरे लिए रात-दिन सब समान हो गया था। आँख खोलने का समय ही नहीं मिलता था। हर समय साली सरहज छेड़ छाड़ करती रहतीं। इतना अच्छा था कि भोजन के समय सासजी उपस्थित रहतीं, वरना वे लोग तो मुझे भूखा ही मार डालतीं।

एक दिन सासजी कहीं बुलावे में चली गईं। साली साहबा झम-झम करती आईं—जीजाजी खाना तैयार है। मुझे भूख नहीं है. तबियत खराब है, पेट में दर्द है, इस प्रकार के अनेक बहाने किये; लेकिन साली साहबा कब पिण्ड छोड़ने वाली थीं। मजबूर होकर मन-ही-मन ओ३म् का जाप करता हुआ उठा।

इतना अच्छा था कि साली साहबा मेरे पीछे पीछे चल रही थीं। राह में मुझे कोई कष्ट न हुआ, किन्तु रसोई घर के समीप आज स्त्रियों का जमघट लगा था, यह बात उन लोगों के अट्टहास ने मुझे दूर ही से जतला दी। खैर, मैं सावधान हो गया, और किसी प्रकार रसोई-घर में पहुँचा। वे लोग खड़ी थीं. इस कारण उनके चरणों पर ही मेरी दृष्टि पड़ी, वरना आज या तो मेरा व्रत खण्डित हो जाता, या ठोकर खाकर मैं राह में गिरता।

मेरे भोजनार्थ आसनी पर बैठते ही वे लोग भी बैठ गईं और लगीं झुक-झुक कर मेरा मुँह निहारने। अनेक प्रकार की बातों से उन लोगों ने मुझे हैरान कर डाला। आप ढेंढ़े तो नहीं हैं, जो मारे शर्म के आँखें बन्द रखते हैं, इत्यादि।

यथाशक्ति उन लोगों ने मुझे खूब बनाया; परन्तु मैंने आँखें न खोलीं। इतने में साली साहबा मेरे सामने थाली रखकर बोलीं—शुरू करिए, देखिए, कहीं मुँह के बजाय नाक मे कौर न चला जाय।

पृथ्वीराज ने अन्धे होकर भी अपने निशाने का अद्भुत परिचय दिया था। मैंने सोचा कि आज मैं भी अपने विलक्षण अभ्यास का परिचय दूँगा। हाथ बढ़ाया ही था कि इतने में साले साहब का कंठस्वर सुनाई पड़ा—हाँ-हाँ! क्या करते हो? अचकचाकर मैंने हाथ समेट लिया। उन्होंने थाली मेरे सामने से सरका दी। जितनी औरतें बैठी थीं, सब ठहाका मार कर हँस पड़ीं। साले साहब भी हँसने लगे, फिर अपनी बहन को झिड़क कर बोले—यह भी कोई मजाक है। साले साहब की ओट में मैंने आँखें खोलीं, तो मारे लज्जा के मैं पानी पानी हो गया। भोजन की थाली नहीं मेरे सामने तो कढ़ाई में आग भरी रखी थी।

(५)

विवाह के तीसरे वर्ष मेरे लाख सिर धुनने पर भी माताजी गौना लेकर ही मानी। ने अपनी स्त्री के साथ वैसा ही व्यवहार बरतना शुरू किया, जैसा बहन से रखता था। प्रथम तो

मैंने सोचा था उसकी ओर देखूँगा ही नहीं; लेकिन जब मुझे मालूम हुआ कि मेरी स्त्री बिलकुल अशिक्षित है, तो बहुत चिन्तित हो उठा। मेरे विचार स्त्री-शिक्षा के पक्ष में थे। पढ़ने-लिखने की यही उम्र है, इसी कारण बहन के साथ ही मैंने उसे भी पढ़ाना शुरू कर दिया। इसमें मुझे कुछ दोष भी नहीं दिखाई दिया। अभी तो मैं उसे धर्मपत्नी समझता ही नहीं हूँ। वह पहले तो सबके बीच में मेरे सामने आने में बहुत शर्माई; किन्तु मैंने उसे समझा दिया कि अभी तुम मुझे अपने पति के समान न समझो; मुझसे किसी प्रकार की लज्जा या परदा मत करो। यह सब फिर कर लेना।

मेरा दृढ़ व्रत देखकर माता-पिता भी अब कुछ बाधा नहीं डालते थे, बल्कि वे भी इस बात की चेष्टा करते कि मैं ब्रह्मचर्य-आश्रम को यथाक्रम पूरा कर सकूँ। कुछ ही दिनों की तो बात है।

अब अपने समय का बहुत-सा भाग मैं उसे पढ़ने में ही खर्च करने लगा। स्त्री के हृदय में मेरे प्रति असीम श्रद्धा थी, मेरी आज्ञा को वह ब्रह्म-वाक्य मानती थी। बेचारी बहुत परिश्रम करके पढ़ने लगी। जब तक मैं उसे पढ़ना समाप्त करने की आज्ञा न देता, वह कदापि न उठती। हाँ, बहन पढ़ने की उतनी शौकीन न थी। वह अभी छोटी भी थी। उकताकर बिना मेरी आज्ञा के भी कभी-कभी भाग जाया करती। इस कारण मजबूर होकर मुझे कभी-कभी एकान्त में भी अपनी स्त्री को पढ़ाना पड़ता।

उसकी बुद्धि की तीव्रता पर मैं इस प्रकार मुग्ध था कि मन

चाहता था कि हर समय उसे पढ़ाने के अतिरिक्त और कोई काम ही न करूँ, बल्कि इस आनन्द में मैं इतना डूब गया कि मुझे यह ज्ञान ही न रहा कि अब पढ़ाई किस ढंग की चल रही है। अब सोचता हूँ कि पढ़ाई तो नाम मात्र को होती थी। हाँ, पुस्तक लेकर उसे आँखों के सामने बिठाकर खूब घुल-घुल कर बातें होती थीं। और आँखों द्वारा उसकी रूप-माधुरी का पान भी करता था।

जाड़े के दिन थे। दिन में कालेज ही से अवकाश नहीं मिलता था। रात में मैं दोनो को अपने छत वाले कमरे में पढ़ाया करता था। एक दिन पढ़ाते पढ़ाते ऊँघ गया। बहन को नींद आ रही थी, अवसर मिल गया, वह नीचे भाग गई। बेचारी स्त्री मेरी आज्ञा के बिना कैसे जाती, बैठी रही।

बारह बजे के करीब जब मेरी आँखें खुली, तो देखा, मेज पर सिर रखे वह भी सो गई है। नींद की बेसुधी में उसका मुख कितना प्यारा लग रहा है! अपलक दृष्टि से मैं कुछ देर तक उसकी ओर निहारता रहा, फिर मुझे ख्याल आया, जाड़े में बेचारी ठिठुर गई होगी, शाल भी नहीं ओढ़े है।

मैंने अपने हाथ से उसका सिर उठाकर उसे जगा दिया। उस समय यह ध्यान ही न रहा कि इसके शरीर को स्पर्श न करना चाहिये। सोचा, उसे सोने नीचे भेज दूँ; किन्तु उसके शरीर के स्पर्श ने मेरे सारे शरीर में बिजली-सी दौड़ा दी। मैं बिलकुल बेसुध हो गया।

वह बेचारी घबरा गई—यह क्या ? मेरा हाथ छोड़िये, अपना प्रण क्या भूल गये ? आप तो कहते···

अधिक वह कुछ कह न सकी। लज्जा से उसकी आँखें झुक गईं।

बहुत-से दिन आनन्दपूर्वक गुजर गये। उसके प्रेम के स्वर्गीय सुख में मुझे अपने व्रत टूटने का कुछ गम नहीं था। बिलकुल निश्चिन्त था; किन्तु एक दिन दोपहर को कालेज से लौट कर घर आया तो क्या देखता हूँ, वह मेरे पलँग पर पड़ी खूब रो रही है। मेरे पूछने पर लजाकर कहने लगी—तुम तो अपनी शर्म को लेकर खामोश बैठे रहोगे, उधर मुझ पर क्या बीत रही है जानते हो ?

मैंने कहा—क्या बात है ?

'जानते तो हो, कब तक छिपेगा ? माता जी मुझे कलंक लगाती है। आज बहुत नाराज हुई हैं। कहती हैं, तू अपने बाप के घर जा। तेरे लिए मेरे घर में जगह नहीं है। दूसरों की दृष्टि में तो ब्रह्मचारी बने हो और मैं ?'

मैं बहुत ही चिन्तित हो उठा। मारे शर्म के कुछ करते-धरते न बनता था। उसी समय क्रोध से सुर्ख माताजी आ पहुँचीं—इस राक्षसी बहू के लच्छन देखे···

लज्जा से मैं धरती मे गड़ गया। आँखें ऊपर न उठ सकीं। मैंने भर्राई हुई आवाज में कहा—मा माफ करो। इसमे दोष मेरा है, उसका नहीं।

माताजी का सारा क्रोध काफूर हो गया। वे खुशियाँ मनाने

लगीं। मैंने बहुत खुशामद-मिन्नत से जब तक छिप सके, छिपाने के लिए घरवालों को राजी किया; किन्तु कब तक छिपता! बच्चा पैदा हुआ और सारे शहर में मेरी खूब भद्द हुई। मित्रों ने वह-वह चुटकियाँ लीं कि क्या बताऊँ। मैंने आर्यसमाज से इस्तीफा दे दिया। बहुत दिन कलेज नहीं गया। उस दिन से मेरा जीवन ही बदल गया। वह लज्जा किसी प्रकार दूर ही नहीं होती है। आज तक मैं सबसे मुँह छिपाता हूँ और सभा-सोसायटियों से तो बहुत ही दूर भागता हूँ। ईश्वर अब कभी किसी समाज के चक्कर में मुझे न डाले।

वकील साहब की दिलचस्प कहानी के साथ आनन्दप्रद पिकनिक समाप्त हुई। उस दिन से लड़के बराबर वकील साहब को परामर्श देते हैं कि आप अपनी यह बात सबको आजादी से सुना दिया करें, तो कुछ ही दिनों में यह निगोड़ी शर्म आप ही भाग जायगी, व्यर्थ में झेंप-झेंपकर अपना जीवन नीरस क्यों बनाते हैं?

———

इन्दु की बेटी

(श्री अज्ञेय)

जब गाड़ी खचाखच लदी होने के कारण मानो कराहती हुई स्टेशन से निकली, तब रामलाल ने एक लम्बी साँस लेकर अपना ध्यान उस प्राण ले लेनेवाली गर्मी, अपने पसीने से तर कपड़ों, और साथ बैठे हुए नंगे बदनवाले गँवार के शरीर की बू से हटाकर फिर अपने सामने बैठी हुई अपनी पत्नी की ओर लगाया; और उसकी पुरानी कुढ़न फिर जाग उठी।

रामलाल की शादी हुए दो बरस हो चले हैं। दो बरस में शादी का नयापन पुराना हो जाता है, तब गृहस्थ-जीवन का सुख नयेपन के अलावा जो दूसरी चीजें होती हैं, उन्हीं पर निर्भर करता है। मातृत्व या पितृत्व की भावना, समान रुचियाँ, इकट्ठे बिताये हुए दिनों की स्मृतियाँ, एक दूसरे को पहुँचाये गये सुख-क्लेश की छाप—नयापन मिट जाने के बाद ये और ऐसी चीजें ही वे ईंटें होती हैं जिनसे गृहस्थी की भीत खड़ी होती है। और रामलाल के जीवन में ये सब जैसे थे ही नहीं। उसके कोई सन्तान नहीं थी, जहाँ तक उसके दाम्पत्य-जीवन के सुख-दुःख की उसे याद थी, वहाँ तक उसे यही दीखता था कि उन्होंने एक दूसरे को कुछ दिया है तो क्लेश ही दिया है। इससे आगे थोड़ी-बहुत मामूली सहूलियत एक दूसरे के लिए पैदा की गई

है, लेकिन उसका शिक्षित दिमाग़ उन चीज़ों को सुख कहने को तैयार नहीं है। उदाहरणतया वह कमाकर कुछ लाता रहा है, और स्त्री रोटी पकाकर देती रही है, कपड़े धोती रही है, झाड़ू लगाती रही है, चक्की भी पीसती रही है। क्या इन चीज़ों का नाम सुख है? क्या उसने शादी इसलिए की थीं कि एक महरी उसे मिल जाय और वह खुद एक दिन से दूसरा दिन करने की चख-चख से बच जाय और बस? क्या उसने बी० ए० तक पढ़ाई इसीलिए की थी कि हर महीने बीस-एक रुपल्लियाँ कमाकर इसके आगे लाकर पटक दिया करे कि ले इस कबाड़-खाने को सँभाल और इस ढाबे को चलता रख?—इस गँवार, अनपढ़, बेवकूफ औरत के आगे जो चक्की पीसने और झाड़ू लगाने से अधिक कुछ नहीं जानती और यह नहीं समझती कि एक पढ़े-लिखे आदमी की भूख दो वक्त की रोटी के अतिरिक्त कुछ और भी माँगती है?

उसकी खीझ एकाएक बढ़कर क्रोध बन गई। स्त्री की ओर से आँख हटाकर वह सोचने लगा, इसका यह नाम किसने रखा? इन्दु। कैसा अच्छा नाम है—जाने किस बेवकूफ ने यह नाम इसे देकर डुबाया! और कुछ नहीं तो सुन्दर ही होती, रंग ही कुछ ठीक होता।

लेकिन जब यह पहले-पहल मेरे घर आई थी, तब तो मुझे इतनी बुरी नहीं लगी थी? क्यों मैंने इसे कहा था कि मैं अपने जीवन का सारा बोझ तुम्हें सौंपकर निश्चिन्त हो जाऊँगा—कैसे कह पाया था कि जो जीवन मुझसे अकेले चलाये नहीं

चलता, वह तुम्हारा साथ पाकर चल जायगा ? पर मैं तब इसे कब जानता था—मैं तो समझता था कि—

रामलाल ने फिर एक तीखी दृष्टि से इन्दु की ओर देखा और फौरन आँखें हटा लीं। तत्काल ही उसे लगा कि यह अच्छा हुआ कि इन्दु ने वह दृष्टि नहीं देखी। उसमें कुछ उस अहीर का-सा भाव था जो मंडी से एक हट्टी कट्टी गाय खरीद-कर लाये और घर आकर पाये कि यह दूध ही नहीं देती।

तभी गाड़ी की चाल फिर धीमी हो गई। रामलाल अपने पड़ोसी गँवार की ओर देखकर सोच ही रहा था कि कौन-सी वीभत्स गाली हरेक स्टेशन पर खड़ी हो जानेवाली इस मन-हूस गाड़ी को दे, कि उसकी स्त्री ने बाहर झाँककर कहा—"स्टेशन आ गया।"

रामलाल की कुढ़न फिर भभक उठी। भला यह भी कोई कहने की बात है ? कौन गधा नहीं जानता कि स्टेशन आ रहा है ? अब क्या यह भी सुनना होगा कि गाड़ी रुक गई। गार्ड ने सीटी दी। हरी झण्डी हिल रही है। गाड़ी ने सीटी दी। गाड़ी चल पड़ी···

लेकिन मैं इस पर क्यों खीझता हूँ ? इस बिचारी का दिमाग़ जहाँ तक जायगा, वहीं तक की बात वह करेगी न ? अब मैं उससे आशा करूँ कि इस समय वह मेघदूत मुझे सुनाने लग जाय और वह इस आशा को पूरा न करे तो उसका क्या कसूर है ?

लेकिन मैंने उसे कभी कुछ कहा है ? चुपचाप सब सहता

आया हूँ। एक भी कठोर शब्द उसके प्रति मेरे मुँह से निकला हो तो मेरी जबान खींच ले। आखिर पढ़-लिखकर इतनी भी तमीज़ न आई तो पढ़ा क्या खाक? समझदार का काम है सहना। मैंने उससे प्यार से कभी बात नहीं की; लेकिन जो बात हृदय मे नहीं है; उसका ढोंग करना नीचता है। क्रोध को दबाने का यह मतलब थोड़े ही है कि झूठमूठ का प्यार दिखाया जाय?

गाड़ी रुक गई। इन्दु ने बाहर की ओर देखते-देखते कहा—'प्यास लगी है··'

रामलाल को वह स्वर अच्छा नहीं लगा। उसमें ज़रा भी तो आग्रह नहीं था कि हे मेरे स्वामी, मैं प्यासी हूँ, मुझे पानी पिला दो! सीधे शब्दों में कहा नहीं तो खैर, पर वहाँ तो ध्वनि भी नहीं है। ऐसा कहा है जैसे "मैं जता देती हूँ कि मैं प्यासी हूँ—आगे कोई पानी ला देगा तो मैं पी लूँगी। नहीं तो ऐसे भी काम चल जायगा। इतनी मैं किसके लिए हूँ कि पानी लाने के लिए कह सकूँ?" फिर भी रामलाल ने लोटा उठाया, बाहर झाँका और यह देखकर कि गाड़ी के पिछले सिरे के पास प्लेटफार्म पर कुछ लोग धक्कमधक्का कर रहे है और एक-आध जो ज़रा अलग हैं, कान में टँगा हुआ जनेऊ उतार रहे हैं, वह उतरकर उधर को चल पड़ा।

वह मुझे कह ही देती कि पानी ला दो, तो क्या हो जाता? मैं, जो कुछ बन पड़ता है, उसके लिए करता हूँ। अब अधिक नही कमा सकता तो क्या करूँ? गाँव मे गुञ्जाइश ही इतनी

है। अब शहर में शायद कुछ हो—पर शहर में खर्च भी होगा।

मैं खर्च की परवाह न करके उसे अपने साथ लिये जा रहा हूँ—और होता तो गाँव में छोड़ जाता—शहर में अकेला आदमी कहीं भी रह सकता है, पर गिरस्थी लेकर तो···और उसे इतना ख्याल नहीं कि ठीक तरह बात ही करे—बात तो क्या करे, रोटी-पानी, पैसा माँग ही ले? क्या निकम्मेपन में भी अभिमान होता है?

रामलाल नल के निकट पहुँच गया।

(२)

गाड़ी ने सीटी दी और चल दी। रामलाल को यह नहीं सुनना पड़ा कि "हरी झण्डी हिल रही है—गाड़ी चली···" इन्दु ने कहा भी नहीं। गार्ड की सीटी हो जाने पर भी जब रामलाल नहीं पहुँचा, तब इन्दु खिड़की के बाहर उझककर उत्कण्ठा से उधर देखने लगी, जिधर वह गया था। गाड़ी चल पड़ी, तब उसकी उत्कण्ठा घोर व्यग्रता में बदल गई। लेकिन तभी उसने देखा, एक हाथ में लोटा थामे रामलाल दौड़ रहा है। वह अपने डिब्बे तक तो नहीं पहुँच सकेगा, लेकिन पीछे के डिब्बे में शायद बैठ जाय।

इन्दु ने देखा कि रामलाल ने एक डिब्बे के दरवाजे पर आकर हैण्डल पकड़ लिया है और उसी के सहारे दौड़ रहा है, लेकिन गाड़ी की गति तेज होने के कारण अभी चढ़ नहीं पाया। कहीं वे रह गये तब? क्षण भर के लिए एक चित्र

उसके आगे दौड़ गया—परदेश में वह अकेली—पास पैसा नहीं, और उससे टिकट तलब किया जा रहा है और वह नहीं जानती कि पति को कैसे सूचित करे कि वह कहाँ है। लेकिन क्षण ही भर में इस डर का स्थान एक दूसरे डर ने ले लिया। कहीं वे उस तेज चलती हुई गाड़ी पर सवार होने के लिए कूदे और—...यह डर उससे नहीं सहा गया। वह जितना बाहर झुक सकती थी, झुककर रामलाल को देखने लगी—उसके पैरों की गति को देखने लगी...और उसके मन में यह होने लगा कि क्यों उसने पति से प्यास की बात कही—यदि कुछ देर बैठा रहता तो मर न जाता...

एकाएक रामलाल गाड़ी के कुछ और निकट आकर कूदा। इन्दु जरा और झुकी कि देखे, वह सवार हो गया कि नहीं और निश्चिन्त हो जाय। उसने देखा—

अन्धकार—कुछ डूबता-सा—एक टीस—जाँघ और कन्धे में जैसे भीषण आग—फिर एक दूसरे प्रकार का अन्धकार।

गाड़ी मानो विवश क्रोध से चिचियाती हुई रुकी कि अनुभूतियों से बँधे हुए इस क्षुद्र चेतन संसार की एक घटना के लिए किसी ने चेन खींचकर उस जड़, निरीह और इसलिए अडिग शक्ति को क्यों रोक दिया है।

गाड़ी के रुकने का कारण समझने उतरने से पहले ही रामलाल ने डिब्बे तक आकर देख लिया कि इन्दु उसमें नहीं है।

(३)

रेल का पहिया जाँघ और कन्धे पर से निकल गया था।

एक आँख भी जाने क्यों बन्द होकर सूज आई थी—बाहर कोई चोट दीख नहीं रही थी—और केश लहू में सनकर जटा-से हो गये थे।

रामलाल ने पास आकर देखा और रह गया! ऐसा बेबस, पत्थर रह गया कि हाथ का लोटा भी गिरना भूल गया।

थोड़ी देर बाद जब ज़रा काँपकर इन्दु की एक आँख खुली और बिना किसी की ओर देखे ही स्थिर हो गई और क्षीण स्वर ने कहा, "मैं चली," तब रामलाल को नहीं लगा कि वे दो शब्द विज्ञप्ति के तौर पर कहे गये हैं—उसे लगा कि उनमें खास कुछ है, जैसे वह किसी विशेष व्यक्ति को कहे गये हैं, और उनमें अनुमति माँगने का-सा भाव है...

उसने एकाएक चाहा कि बढ़कर लोटा इन्दु के मुँह से छुआ दे, लेकिन लोटे का ध्यान आते ही वह उसके हाथ से छूटकर गिर गया।

रामलाल उस आँख की ओर देखता रहा, लेकिन वह फिर झिपी नहीं। गाड़ी चली गई। थोड़ी देर बाद एक डाक्टर ने आकर एक बार शरीर की ओर देखा, एक बार रामलाल की ओर, एक बार फिर उस खुली आँख की ओर, और फिर धीरे से पल्ला खींचकर इन्दु का मुँह ढँक दिया।

(४)

गाड़ी ज़रा-सी देर रुककर चली गई थी। दुनियाँ ज़रा भी नहीं रुकी। गाड़ी आदमी की बनाई हुई थी, दुनियाँ का बनाने-वाला ईश्वर है।

बीस साल हो गये। घिरती रात में हरेक स्टेशन पर रुकने-वाली एक गाड़ी के सेकण्ड क्लास डिब्बे में रामलाल लेटा हुआ था। वह कलकत्ते से रुपया कमाकर लौट रहा था। आज उसके मन में गाड़ी पर खीझ नहीं थी—आज वह यात्रा पर जा नहीं रहा था, लौट रहा था। और वह थका हुआ था।

एक छोटे स्टेशन पर वह एकाएक भड़भड़ा कर उठ बैठा। बाहर झाँककर देखा, कहीं कोई कुली नहीं था। वह स्वयं बिस्तर और बैग बाहर रखने लगा। तभी, स्टेशन के पाइंटमैन ने आकर कहा, "बाबूजी, कहाँ जाइएगा?" छोटे स्टेशनों पर लाइनमैन और पाइंटमैन ही मौके-बे-मौके कुली का काम कर देते हैं। रामलाल ने कहा, "यहीं एक तरफ करके रख दो।"

"और कुछ सामान नहीं है?"

"बाकी ब्रेक में है; आगे जायगा।"

"अच्छा।"

गाड़ी चली गई। बूढ़े पाइंटमैन ने सामान स्टेशन के अन्दर ठीक से रख दिया। रामलाल बेंच पर बैठ गया। स्टेशन के एक कोने में एक बड़ा लैम्प जल रहा था, उसकी ओर पीठ करके जाने क्या सोचने लग गया, भूल गया कि कोई उसके पास खड़ा है।

बूढ़े ने पूछा, "बाबूजी, कैसे आना हुआ?" ऐसा बढ़िया सूट-बूट पहनने-वाला आदमी उसने उस स्टेशन पर पहले नहीं देखा था।

"यों ही।"

"ठहरिएगा ?"

"नहीं। अगली गाड़ी कब जाती है ?"

"कल सवेरे। उसमें जाइएगा ?"

"हाँ।"

"इस वक्त बाहर जाइएगा ?"

"नहीं।"

"लेकिन यहाँ तो वेटिंगरूम नहीं है—"

"यहीं बेंच पर बैठा रहूँगा।"

बूढ़ा मन में सोचने लगा, यह अजब आदमी है जो बिना वजह रातभर यहाँ ठिठुरेगा और सवेरे चला जायगा ! पर अब रामलाल प्रश्न पूछने लगा :—

"तुम यहाँ कब से हो ?"

"अजी क्या बताऊँ—सारी उमर ही यहीं कटी है।"

"अच्छा ! तुम्हारे होते यहाँ कोई दुर्घटना हुई ?"

"नहीं—" कहकर बूढ़ा रुक गया। फिर कहने लगा, हाँ, एक बार एक औरत रेल के नीचे आकर कट गई थी। उधर प्लेटफार्म से ज़रा आगे।"

"हूँ।" रामलाल के स्वर में जैसे अरुचि थी, लेकिन बूढ़ा अपने आप ही उस घटना का वर्णन करने लगा।

"कहते हैं, उसका आदमी यहाँ पानी लेने के लिए उतरा था, इतनी देर में गाड़ी चल पड़ी। वह बैठने के लिए गाड़ी के साथ दौड़ रहा था, औरत झाँककर बाहर देख रही थी कि बैठ गया या नहीं, तभी बाहर गिर पड़ी और कट गई।"

"हूँ।"

थोड़ी देर बाद बूढ़े ने फिर कहा—"बाबूजी, औरत जात भी कैसी होती है। भला वह गाड़ी से रह जाता, तो कौन बड़ी बात थी? दूसरी में आ जाता। लेकिन औरत का दिल कैसे मान जाय—"

रामलाल ने जेब से चार आने पैसे निकालकर उसे देते हुए संक्षेप में कहा—"जाओ।"

"बाबूजी—"

रामलाल ने टाँगें बेंच पर फैलाते हुए कहा—"मैं सोऊँगा।"

बूढ़ा चला गया। जाता हुआ स्टेशन का एकमात्र लैम्प भी बुझा गया—अब उसकी कोई ज़रूरत नहीं थी।

रामलाल उठकर प्लेटफार्म पर टहलने लगा और सोचने लगा...

उसने पानी नहीं माँगा था, लेकिन अगर मैंने ही कह दिया होता कि मैं अभी लाये देता हूँ पानी, तो—तो—

आदमी जब चाहता है जीवन के बीस वर्षों को बीस मिनट—बीस सेकण्ड में जी डालना, और वह बीस सेकण्ड भी ऐसे जो आज के नहीं हैं, बीस वर्ष पहले के हैं, तब उसकी आत्मा का अकेलापन कहा नहीं जा सकता. अँधेरे में ही कुछ अनुभव किया जा सकता है...

(५)

रामलाल स्टेशन का प्लेटफार्म पार करके रेल की पटरी के साथ हो लिया। एक सौ दस कदम चलकर वह रुका और

पटरी की ओर देखने लगा। उसे लगा, पटरी के नीचे लकड़ी के स्लीपरों पर जैसे खून के पुराने धब्बे हैं। वह पटरी के पास ही बैठ गया। लेकिन बीस वर्ष में तो स्लीपर कई बार बदल चुकते है। ये धब्बे खून के हैं, या तेल के?

रामलाल ने चारों ओर देखा। वही स्थान है। आस-पास के दृश्य से अधिक उसका मन गवाही देता है।

और रामलाल घुटनों पर सिर टेककर, आँखें बन्द करके पुराने दृश्यों को जिलाता है। वह कठोर एकाग्रता से उस दृश्य को सामने लाना चाहता है, नहीं, सामने आने से रोकना चाहता है—नहीं, वह कुछ भी नहीं चाहता, वह नहीं जानता कि वह क्या चाहता है। या नहीं चाहता है। उसने अपने आपको एक प्रेत को समर्पित कर दिया है। जीवन में उससे खिचे रहने का यही एक प्रायश्चित्त उसके पास है। और इस समय स्वयं मिट्टी होकर, स्वयं प्रेत होकर, वह मानो उससे एक हो लेना चाहता है, उससे कुछ आदेश पा लेना चाहता है...

जाने कितनी देर बाद वह चौंकता है। सामने कहीं से रोने की आवाज़ आ रही है; एक औरत के रोने की। रामलाल उठकर चारों ओर देखता है। कहीं कुछ नहीं दीखता, आवाज़ निरन्तर आती है। रामलाल आवाज़ की ओर चल पड़ता है—जो स्टेशन से परे की ओर है...

इन्दु कभी रोई थी? उसे याद नहीं आता। लेकिन यह कौन है जो रो रहा है? और इस आवाज़ में यह कशिश क्यों है...

"कौन है ?"

कोई उत्तर नहीं मिलता। दो-चार कदम चलकर रामलाल कोमल स्वर में फिर पूछता है, "कौन रोता है ?"

रेल की पटरी के पास से कोई उठता है। रामलाल देखता है—किसी गाढ़े रंग के आवरण में बिलकुल लिपटी हुई एक स्त्री उसे पास आता देखकर जल्दी से एक ओर चल देती है और क्षण भर में झुरमुट की ओट हो जाती है। रामलाल पीछा भी करता है, लेकिन अन्धकार में पीछा करना व्यर्थ है—कुछ दीखता ही नहीं।

रामलाल पटरी की ओर लौटकर वह स्थान खोजता है, जहाँ वह बैठी थी।

क्या यहाँ पर ? नहीं, शायद थोड़ा और आगे। यहाँ पर ? नहीं, थोड़ा और आगे।

उसका पैर किसी गुदगुदी चीज से टकराता है। वह झुककर टटोलता है—एक कपड़े की पोटली। बैठकर खोलने लगता है। पोटली चीख उठती है। काँपते हाथों से उठाकर वह देखता है, पोटली एक छोटा सा शिशु है जिसे उसने जगा दिया है।

वह शिशु को गोद में लेकर थपथपाता हुआ स्टेशन लौट आता है और बेंच पर बैठ जाता है। घड़ी देखता है, तीन बजे है। पाँच बजे गाड़ी मिलेगी। अपने ओवरकोट से वह बच्चे को ढँक लेता है—दो घण्टे के लिए इतना प्रबन्ध काफी है। गाड़ी में बिस्तर खोला जा सकेगा...

(६)

रामलाल ने अपने गाँव में एक पक्का मकान बनवा लिया है और उसी में रहता है। साथ रहती है वह पाई हुई शिशु-कन्या जिसका नाम उसने इन्दुकला रखा है, और उसकी आया, जो दिन भर उसे गाड़ी में फिराया करती है।

गाँव के लोग कहते है कि रामलाल पागल है। पैसेवाले भी पागल होते हैं। और इन्दु जहाँ जहाँ जाती है, ये उँगली उठाकर कहते हैं—"वह देखो उस पागल बूढ़े की बेटी!" इसमें बड़ा गूढ़ व्यंग्य होता है, क्योंकि वे जानते है कि बूढ़ा रामलाल किसी के पाप का बोझ ढो रहा है। लेकिन रामलाल को किसी की परवाह नहीं है। वह निर्द्वन्द्व है। उसके हृदय में विश्वास है। वह खूब जानता है कि उसकी क्षमाशीला इन्दु ने स्वयं प्रकट होकर अपनी स्नेहपूर्ण अनुकम्पा के चिह्न-स्वरूप अपना अंश और प्रतिरूप वह उसे भेंट की थी।

रामलीला

(श्री राधाकृष्ण)

पेशा में कोई पेशा हुआ भी तो रामलीला का दल रखने का पेशा हुआ। दूकानदारी का पेशा होता, जमींदारी होती, महाजनी होती. कोई भी. कैसा भी पेशा होता. तो एक बात थी। मगर रामलीला का दल रखने का पेशा.. सो भी यह खानदानी पेशा है। सात पुश्तों से रामलीला का दल चला आता है। और रामरतन जरा आधुनिक बुद्धि का आदमी है, सो अपने इस पेशे को पसंद नहीं करता। मगर खानदानी चीज है। रामलीला वह छोड़ नहीं सकता, अपना दल तोड़ नहीं सकता।

मगर ये जो ऐरा गैरा नत्थूखैरा आकर राम बनते हैं, लक्ष्मण बनते हैं, वसिष्ठ और विश्वामित्र बन जाते हैं. सो रामरतन को पसंद नहीं। यह इस प्रकार राम की पैरोडी हो जाती है, लक्ष्मण का उपहास हो जाता है. राजा दशरथ की मिट्टी पलीद होती है और महाज्ञानी वसिष्ठ के मुँह से ज्ञान के बदले अज्ञान ही ज्यादा निकलता है। सो रामरतन रामलीला के इस पुराने ढर्रे में परिवर्तन करेगा।

और. वह रामरतन पाँच दिन से परेशान है। वह कोई ऐसा बालक खोज रहा है, जो राम का पार्ट करे । वह किसी

साँवले-सलोने बालक की खोज में घूम रहा है। तमाम ढूँढ आया, लेकिन रामरतन को ऐसा बालक नहीं मिलता। जो देखने में आते हैं, वे जी को जँचते नहीं। सब में एक-दो त्रुटियाँ अवश्य आगे आ जाती हैं। वैसा मनचाहा बालक नहीं मिलता। जाने मिलेगा भी या नहीं मिलेगा।

पाँचवें दिन रामरतन निराश हो गया। जब राम ही नहीं, तो रामलीला भी नहीं। वह थक गया; शरीर से भी, मन से भी। उसे लगा जैसे वह कूड़े के अन्दर शालिग्राम ढूँढ रहा है। भला कहाँ मिलेगा ? उसे लगा कि इस इतनी बड़ी धरती पर वह सबसे ज्यादा लाचार प्राणी है। उसकी परेशानी में कोई उसका सहारा नहीं हो सकता। भला यह रामलीला का दल क्या हुआ कि परेशानी का भण्डार हो गया। वह थककर पार्क की एक बेंच पर बैठ गया। अगर राम का काम करने वाला बालक नहीं मिला, तो फिर रामलीला कैसे होगी ?

बैठे बैठे वह देखता है कि एक वैसा ही अबोध, वैसा ही भोला, निर्मल-निश्छल, साँवला-सलोना बालक पार्क में तितलियों के पीछे दौड़ रहा है। कौन लड़का है ? किसका लड़का है ? अगर यह राम का पार्ट करे, तब तो फिर कुछ कहना ही नहीं।

उसने बालक को बुलाया। अपने पास बिठाकर उससे तरह-तरह की बातें पूछने लगा। लड़के ने कहा—मेरे पिता नहीं, मेरी माँ है। वह क्या करती है, सो मैं नहीं जानता। हमारे घर में तीन गाय हैं। माँ उनका दूध दुहती है। एक ग्वाला आकर उसका दाम दे जाता है। हमारे एक मामा हैं, सो

बड़ी दूर रहते हैं। रंगून कहाँ है; जानते हो? हमारे मामा वहीं नौकरी करते हैं। जब वे आवेंगे, तो मेरे लिए एक दोना मिठाई लावेंगे और एक रबर की गेंद लावेंगे। फिर वे मेरे लिए कोट सिला देंगे और हाफपैंट खरीद देंगे। फिर कोई तकलीफ नहीं रहेगी।

इस बालक को पाकर रामरतन ने मानो आसमान का चाँद पा लिया। राम के लायक ऐसा बालक मिलना असम्भव था। थोड़ी देर के बाद वह उस बालक की माँ के सामने खड़ा था और उसकी शङ्काओं का समाधान कर रहा था। उसकी माँ को जो हिचक थी, सो रुपयों की आवाज सुनते ही मिट गई।

रामरतन ने बालक से पूछा—क्यों भाई, राम का पार्ट करोगे न?

करूँगा!—बालक ने सरलता से जवाब दिया।

तीर चलाकर तब तुम ताड़का को कैसे मारोगे?

बालक ने छोटी-सी धनुही से तीर का ऐसा सरल सन्धान किया कि रामरतन खुशी से निहाल हो उठा। ऐसा बढ़िया बालक कभी नहीं मिलेगा; कहीं नहीं मिलेगा। यह बालक राम का प्रतिरूप है। राम का अभिनय इसके पास आकर सत्य और साकार हो उठा है।

और दूसरे दिन से ही रामलीला में दर्शकों की भीड़ तिगुनी-चौगुनी होने लगी। वह बालक राम के रूप और अभिनय को सार्थक कर रहा था।

\+ \+ \+

फिर बाईस वर्ष व्यतीत हो गये। इतने दिनों को बड़ी

लम्बी अनेकानेक कहानियाँ हैं, रामरतन का रामलीला पार्टी आज भारतवर्ष में विख्यात है। पार्टी के पास धन है, सम्मान है, प्रतिष्ठा है। मगर फिर भी रामरतन को शान्ति नहीं। अब उसकी पार्टी ग्वालियर में आई है। महाराज ने खास तौर पर उसकी रामलीला पार्टी को निमंत्रण दिया है। लोग उत्सुक हैं। मगर रामरतन जान-बूझकर पंद्रह दिनों से देर कर रहा है। उसके पास रावण की कमी है। जो व्यक्ति रावण का काम करता है, वह रामरतन को ही पसंद नहीं फिर उसे ग्वालियर के नरेश कैसे पसन्द करेंगे? इतनी बड़ी इस पृथिवी पर उसे एक रावण नहीं मिलता। रामरतन रावण खोज रहा है और परेशान हो रहा है। रावण की प्रतिच्छवि कहीं दीखती नहीं। उस रावण के भयानक चेहरे पर क्रोध था, हिंसा थी। उसके भारी गले से कर्कश आवाज़ निकलती थी। हाँ, ऐसा ही रावण होना चाहिये, ऐसा ही रावण रामलीला में सजेगा, ऐसा ही रावण जगतमाता जानकी का हरण कर सकता है।

और, आखिर ऐसा ही एक व्यक्ति उसे एक शराबखाने में दिखलाई दिया। उसके चेहरे पर अभिमान और क्रूरता थी। कर्कश कण्ठ से गालियों की बौछार निकल रही थी। दूकानदार से वह मुफ्त में शराब माँग रहा था; लेकिन शराब के बदले दोनों में बेशुमार गालियों का विनिमय होने लगा था। हाँ यही है, जो चाहे तो रावण बनकर सचमुच सज सकता है। र कैसी भयानकता है, आँखों में कितना कमीनापन

है। यह साधु का कपटवेश धारण करके सीता के पास जायगा तब भी मन, वाणी और रूप की भयानकता नहीं मिटेगी! देखते ही लोग कह देंगे, यही रावण है, कपटी, बदमाश!....

रामरतन आगे बढ़ गया और दूकानदार के सामने चवन्नी फेंककर बोला—भई, मेरी ओर से इन्हें पिला दो; एक बोतल!

ऐ! रावण की प्रतिच्छविवाला व्यक्ति बोला—तू तो बड़ा दयावान् है यार! बतला, मैं तेरा क्या काम करूँ? तू मुझसे क्या काम लेगा?

रामरतन ने कहा—मेरी एक रामलीला पार्टी है; मैं उसमें तुम्हें रावण का पार्ट देना चाहता हूँ।

रावण?...अच्छा, मैं करूँगा।

और, सचमुच उसके द्वारा रावण का काम सबसे अच्छा हुआ। रामलीला समाप्त होने के बाद रामरतन ने उससे पूछा—बोलो, आज पुरस्कार में मैं तुम्हें क्या दूँ?

रावण ने कहा—मैं आपसे पहले भी बहुत कुछ पा चुका हूँ; अब आज क्या माँगूँ?

पहले? रामरतन ने आश्चर्य से कहा—मैंने तो पहले तुम्हें कभी देखा भी नहीं।

हाँ, आप मुझे नहीं पहचान सके; लेकिन मैंने आपको पहले दिन ही पहचान लिया था। मैं वही आदमी हूँ, जो लड़कपन में आपके यहाँ राम का पार्ट किया करता था। उसके बाद मेरे मामा आकर आपसे मुझे ले गये। याद कीजिये। मैं वही

आदमी हूँ। एक दिन आपके यहाँ मैं राम बनता था। याद आया ?

हाँ, रामरतन को अब याद आ गया। रावण के उस भयानक चेहरे के भीतर से रामरतन को राम की वही साँवली-सलोनी निर्मल छवि फूटती हुई सी दिखलाई पड़ी। वह आश्चर्य से चकित होकर बोल उठा—हाँ, तुम वही राम हो। मुझे याद आ गया। तुम वही राम हो।